

# काले फूल का पौदा

[ उपन्यास ]

लक्ष्मीनारायण लाल

ग्रन्थ-संख्या—१९२

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भंडार

लीडर प्रेस, प्रयाग

मुद्रक—

बी० पी० ठाकुर

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सत्येन्द्र और सुभाष को





काले फूल का पौदा

जब शहर का घुआँ रात को बादल बनने लगा, और उसकी उदासी से सड़क की बत्तियाँ, मन्दिरों के घटे, आरती के शख, गली-मुहल्लों की आत्माये फीकी पडने लगी, तब एकाएक उसने अपने कमरे की सब खिड़कियाँ बन्द कर ली ।

धुएँ के ऐसे बादलों से उसका दम घुटने लगता था ।

पलंग पर पड़ी-पड़ी वह कुछ देर तक सोचती रही—बल्कि याद करती रही, ऐसी याद, जो कभी पीछा नहीं छोड़ती, और जी होता है कि उसे सोचकर जला दी जाय, पर किसी तरह वह काबू में ही नहीं आती ।

उससे छुटकारा पाने के लिये वह उन्ही को लिखती जा रही थी । अब कुछ ही पृष्ठ शेष थे ।

यह बनारस है, वह लखनऊ था । जिस क्षेत्र में वह घर था, गदौलिया की वह एक साफ-सुथरी गली थी । घर पक्का था, बिजली, नल दोनों लगे थे । पखे थे, पर रेडियो न था ।

वह गली पश्चिम से पूरब की ओर फूटी थी, और मुड़ती-घूमती जैसे अनन्त की ओर चली गयी थी। दोनों ओर अनेक पक्की इमारतें थी, पर सब घर थे, ऐसे घर, जिनमें आँगन होते हैं, अन्तःपुर बने रहते हैं। उनमें इतना ही भाग खुला रहता है, जिससे प्रकाश आये।

वह जिस कमरे में बैठी लिख रही थी, वह छत का कमरा था—बिल्कुल जीने के ऊपर। छत पर तीन कमरे और थे, पर खाली पड़े थे। वे केवल जाड़े में बसाये जाते, और गर्मी में सुखाये जाते थे।

पृष्ठ सब भर गये, पर लिखनेवाली का तिल भर न खाली हुआ। पलंग से नीचे आ, खड़ी हुई। तब उसे एक अजीब-सी थकान मालूम हुई।

घड़ी में आठ बज गये थे।

‘सरोज अब तक न आयी !

उसने दाँयी खिड़की खोल ली, पर्दे को एक ओर समेट कर राह तकने लगी।

दृष्टि धीरे-धीरे शून्य में टँग गयी, वह देखने लगी, जैसे तेज बुखार में कोई देखने लगता है, उड़ते-उड़ते अर्थहीन चित्र, मिटती-बनती अस्पष्ट भाँकियाँ और अधूरे-अपूर्ण लोग।

अवश, हारी-सी वह पलंग पर आ बैठी, नीचे माँ के पास गयी, चौंके में जा बैठी और फिर, ऊपर अपने कमरे में आने लगी।

जब कमरे में आयी, उसे लगा, वह कमरा लखनऊ के लाल बाग में है, कोई उसे कंधे का सहारा दिये हुए दो मजिले के फ्लैट से सम्हल-सम्हल कर जीने से नीचे उतार रहा है। उसकी सूनी दृष्टि में एक कपन हुई और उसके नैन भर आये। घूम कर उसने अपने को आइने में देखा। पूरा मुख रक्ताभ था, और उसकी आँखों में छवि बरस रही थी। उसे पता नहीं, लेकिन उसके पाँव कमरे में अस्थिर होने लगे और सहज रूप से उसके ओठों पर किसी गुनगुनाहट ने अपना रँग बरसा दिया।

और जब वह सो गयी, तब पता नहीं क्यों, उसके स्वस्थ मुख की

## काले फूल का पौदा

सरल आभा पर पीली-पीली रेखाओं में उदासी फैलने लगी, जैसे, गोरी-तरुण धरती पर हरसिगार के फूल भर गये हो ।

सरोज के आने की प्रतीक्षा में खिडकी खुली रह गयी । कमरे में प्रकाश था, और ऊपर बिजली का पखा चल रहा था ।

निश्चित समय से एक घटा बाद, सरोज उस कमरे में आयी और लज्जा से मुस्करा कर रह गयी । आत्मग्लानि से वह सोयी हुई गीता को निहारती रही, फिर उसने सहसा देखा—पखे की हवा में न जाने कहाँ से कागज के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े इधर-उधर उड़ रहे थे ।

सरोज की दृष्टि पायतान की ओर मुड़ी और वह भट आगे बढ़ कर वही बैठ गयी । टुकड़े-टुकड़े किये हुये कागज के छोटे-से ढेर को उसने उँगली से छुआ—छूते ही सब बिखर गये । उसने पखे को बन्द किया और फर्श पर बिखरे हुये कागज के टुकड़ों को वह अपनी मुट्ठी में सहेजने लगी ।

जब मुट्ठी भर गयी, फिर उसने दो-चार टुकड़ों पर देखा, किसी पर वाक्यांश, किसी पर पूरे शब्द और किसी पर अधूरे वचन और किसी पर कुछ नहीं । एकाएक उसने एक टुकड़े पर पढ़ा—‘मैं मर गयी ।’

सरोज मुस्करा दी, फिर उसने कुछ टुकड़ों को जोड़ना आरम्भ किया, लेकिन उसे कही ‘मैं मर गयी’ के आगे-पीछे का जोड़ न मिल सका ।

हार कर उसने कागज के उस टुकड़े को अपने तग ब्लाउज में डाल लिया और शेष टुकड़ों को सम्हालकर पल्लंग के पायतान छिपा दिया—गद्दा और चद्दर की तह में ।

पखा फिर चलने लगा । खुली हुई खिडकी पर पर्दा खींच कर उसने धीरे से प्रकाश बुझा दिया और चुपचाप कमरे से बाहर चली गयी ।

अन्धकार की शक्ति प्रकाश में खो जाती है । लेकिन अन्धकार में डूबकर जब कोई बेखबर हो जाता है, फिर सयम से दबाया

हुआ मन और संस्कारों से अनुशासित उसका समूचा व्यवित अपने में एक शक्ति सँजोने लगता है और वह धीरे-धीरे बधन-मुक्त होकर निद्रा और अन्धकार की शक्ति को चुनौती दे देता है ।

गीता देखने लगी—जिस कमरे में वह सोयी है, उसका दरवाजा भीतर से बन्द है । कमरे की सब शीशों की खिड़कियाँ भलीभाँति बन्द हैं । बाहर से कमरे में आने का कहीं से, किसी भी तरह का रास्ता नहीं है ।

भीतर अपने-आप में गीता बेखबर सो रही है—बाहर से पूर्णतः असम्पृक्त, निस्संग । कुछ क्षण बाद सामने की खिड़की पर किसी की छाया पड़ती है, छाया एकाएक खो जाती है । फिर एक बलिष्ठ हाथ बाहर खिड़की के शीशे पर, नीचे से ऊपर फैलने लगता है । बीच में आ कर हाथ की गति रुक-सी जाती है । उसकी अँगुलियाँ फैलकर तनती हैं और उनसे वह शीशे पर दस्तक देने लगता है । लेकिन बाहर की आवाज भीतर नहीं जाती । सहसा सब अँगुलियाँ आपस में भिचकर मुट्ठी बँध जाती हैं और आवेश से वह मुट्ठी शीशे पर टकराती है । शीशा टूट जाता है और मजबूती से बन्द खिड़की में एक सूराख हो जाता है ।

खिड़की के बाहर, उसी सूराख से कोई बच्चा भाँकने लगता है ।

गीता डर से चीख उठी, और क्षण भर में वह पसीने से तर हो गयी । कमरे में प्रकाश किया और फूलती हुई साँसों को वह संयम से दबाने लगी ।

‘गुआ कैसा सपना था ।’

भावव्रस्त हो वह कमरे से बाहर दौड़ी—कुछ देर खुली छत पर घूमती रही, फिर तेजी से नीचे उतर आयी । आँगन में स्थिर खड़ी-खड़ी वह स्वप्न को सोचती हुई और उसकी अपूर्णता को अब अपनी जाग्रत अवस्था की बुद्धि से पूर्ण करती हुई उसे देखने लगी । लेकिन उसका मन एक क्षण से अधिक उस सम्पूर्णता को न देख सका । वह व्रस्त हो उठा और गीता का कंठ, जिह्वा, अधर, नाक, कान और आँख—

समस्त अगों पर कड़ुवाहट फैल गयी और उसे मचली-सी आने लगी ।

उसने कई बार थूका । आँगन में घूमती फिरी । उसी समय माताजी के कमरे में प्रकाश हुआ और उसी की गति के साथ ही साथ आवाज आयी—“क्या है गित्ती ?”

गीता से कुछ न बोला गया । वह चुपचाप माँ के कमरे में बढ आयी और सुराही से पानी लेकर मुह साफ करने लगी ।

“मगल ने तेरे कमरे में पानी नहीं रखा था ?”

“था तो !”

लगातार कई कुल्ले करने के बाद भी गीता के गले का कसैलापन न गया, वह बार-बार थूकती रही ।

“जी मचला रहा है क्या ?” माताजी ने घबडाहट से पूछा ।

“नहीं, गला सूख रहा था ।”

“तो पानी क्यों नहीं पीती, कुल्ला करने से क्या होगा ?”

आलस भाव से गीता माता जी के बिस्तरे पर लेट गयी और आँचल से अपना मुह ढक लिया ।

“यह कहो कि मेरे साथ तुम्हें सुतास लगी थी ।” माताजी ने मुस्करा कर कहा और इलाइची के दानों को उसके मुह में डाल दिया । गीता मुस्करा दी । बढकर उसने माता जी को अपनी बाहों में भर लिया और उसी तरह वह लेटी रही ।

“तेरा बचपन न गया ।” माताजी वात्सल्य कर से उसके सर को सहलाती हुई बुदबुदाने लगी, “शादी हो गयी, पति के साथ भी इतने दिन रह आयी और अब एम० ए० की परीक्षा देने जा रही है ।”

“तो क्या हुआ ?” गीता ने सर उठाया ।

“लाडलीपन और क्या ?”

“क्या करूँ इसे ?”

“छोड दे, और क्या ?”

“क्यों छोड़ूँ.... जब तक तू है मैं क्यों छोड़ूँ, कैसे छोड़ूँ ?”

शक्ति से गीता, माताजी के अक में समा गयी और वही से हँसती रही ।

“यही है तेरी शैतानी !” माताजी ने कृत्रिम भुभुलाहट से कहा—

“गली, मोहल्ले में कोई सुने तो क्या कहेगा ? इतनी रात को कहीं हँसा-बोला जाता है ?”

गीता ने शिशुवत् अपने को माताजी के अक में छिपा लिया और थोड़ी ही देर बाद उसके अग ढीले पडने लगे, और वह अक की गरिमा में डूबकर निस्पन्द हो गयी ।

गीता सो गयी, और माँ जगती रही । साथ के कमरे से गीता के पापा की खॉसी उभरने लगी । पहले स्वर धीमा था, परन्तु धीरे-धीरे खॉसी का सूत्र बढ़ता हुआ वेगपूर्ण हो गया । माँ गीता को छोड़, कमरे की ओर भगी ।

गीता की भरी हुई शिथिल चम्पई बाहे अब भी उसी तरह फैली थी । सहसा वह फिर चौकी और उसकी बाहों की प्रसृति गोल-सी हो गयी । क्षण भर बाद वे बाहे फिर फैली, लेकिन कँपकर रह गयी ।

गीता जग पड़ी । साथ के कमरे में प्रकाश था और वहाँ से पापा और माताजी की आवाज सुनायी पड रही थी । गीता शान्त हो गयी । माताजी कमरे में आयी, और चुपचाप पलंग पर लेट गयी ।

“अरे तू जग गयी ?”

गीता चुप थी ।

“तेरे पापा को खॉसी का दौड़ा आगया था ।”

वह फिर भी कुछ न बोली । सहज भाव से माताजी के सीने से सट गयी और नीद के बोझ से धीरे-धीरे उसकी पलके मुद गयी ।

सबरे सात बजते-बजते सरोज आयी । उस समय माताजी पूजा कर रही थी । कृष्ण-राम की मूर्तियों की आरती उतारती हुई वह अपनी बिनती में तन्मय थी । गीता खड़ी-खड़ी शख बजा रही थी ।

सरोज बरामदे में रुकी हुई देख रही थी—अर्घ्य, आरती, पुष्प, शख और सब के ऊपर माताजी की तन्मयता ।

गीता की दृष्टि सरोज पर पड़ी । सरोज आगे बढ़ी । गीता उसे अपने कमरे में ले गयी ।

“जिया, रात तू नहीं आयी ? मैं बहुत देर तक राह देखती रही !”

“आयी थी—देर हो गयी थी ।”

“देखो, बहाना बनाने के लिये झूठ न बोलो ।”

सरोज कुछ बोली नहीं, उसने पायताने से कागज के एक टुकड़े को निकाल कर गीता की आँखों के सामने कर दिया । गीता लजा गयी । दोनों पलंग पर बैठ गयी ।

“मैं जब यहाँ आयी, तू बेखबर सो चुकी थी,” यह कहते-कहते सरोज ने कागज के सारे टुकड़ों को निकाला और उन्हें गीता की हथेली में भर दिया ।

“यह क्या था, जिसे तू ने फाड़ डाला ?”

“मेरे एक दिन की बात थी । वह दिन आज से तीन महीने का पुराना था । उस दिन को मैं ने कल शब्दों में बाँध कर सोचा था । उसे ही सुनाने के लिये मैं ने कल तुम्हें बुलाया था ।”

“तो फाड़ क्यों डाला ?”

“तू आयी जो नहीं ?”

“बावली कही की, फिर नहीं आती क्या ? यह कहो कि वह किसी को सुनाने लायक न था ।”

“नहीं, तुम्हें ही तो सुनाने के लिये लिखा था ।”

सरोज चुप थी ।

गीता ने चंचलता से पूछा, “पहले यह बताओ, रात यहाँ आने में देर क्यों हो गयी ?”

“कल उनका फिर एक बहुत लम्बा-चौड़ा पत्र आया था, विवश होकर मैं उसका उत्तर लिखने लगी !”



“सच, उनका पत्र आया था ! और तुम उन्हें जवाब भी दे रही हो . . बड़ी अच्छी हो तुम जिया !”

गीता प्रसन्नता से गद्गद् हो रही थी । सरोज गम्भीर थी ।

“अच्छा यह तो बताओ कि क्या-क्या लिखा था ?”

गीता लजाती हुई सकोच से भर रही थी । जैसे वह बताना चाहती थी, लेकिन बता न पा रही थी । उसके ओठों में गति होकर रह जाती और कभी-कभी उसका पूरा मुख रक्तहीन हो जाता ।

वह सहसा उठी, तेजी से खिड़की के पास गयी और भरी हुई मुट्ठी के टुकड़ों को उसने खिड़की से बाहर उड़ा दिया ।

“उस टुकड़े को भी लाओ !” गीता माँगने लगी ।

“क्या हो गया है तुम्हें, डरपोक कही कौ !” सरोज ने अपनी आँखों में भाव लाते हुये कहा, “अपनी चीज लिखकर स्वयं नहीं फाड़ते ! और फाड़ भी दी तो उसे रास्ते में नहीं बिखेरते . . . . . कोई उन्हें इकट्ठा करके जोड़ने लगे तो !”

सरोज कौतूहल से भर गयी और गीता शिशुवत निष्प्रभ हो आयी । वह कमरे से बाहर दौड़ी ।

बाहर जमीन पर बिखरे हुये कागज के एक-एक टुकड़े को गीता सँजो रही थी । सरोज खिड़की के पास खड़ी होकर उसके बचपने पर हैरान थी । गीता सोच रही थी कि सच, अगर इन टुकड़ों को कोई पा जाता और इन्हें जोड़-जोड़ कर पढ़ने लगता तो कितनी बुरी बात होती । मुफ्त में चारों ओर नाम बिकता, गली-मुहल्ले में शंकाये उठतीं, बातें चलतीं और उनके नये-नये सूत्र फैलते ।

मुट्ठी कसे हुये गीता वापस लौटी, सीधी रसोईघर में गयी और दहकते हुये चूल्हे में सब टुकड़ों को डाल दिया ।

आश्चर्य से गीता कमरे में लौटी और हँस पड़ी, परन्तु सरोज को हँसी न आयी ।

उसने विस्मय से पूछा, “आखिर क्या था उसमें ?”

“था तो कुछ नहीं।”

दोना चुप हो गयी। गीता ने सरोज के हाथ से उसकी किताब ले ली और अनायास उसके पृष्ठों को उलटने लगी। उन्ही पृष्ठों में उसे सरोज का लिखा हुआ पत्र दीख पड़ा।

“जिया ! यह पत्र मुझे सुना दो।”

“क्यों ?”

“तब मैं भी अपनी बात बता दूंगी।”

“तेरी मशा पर है—लेकिन मैं तो इसे तुझे सुनाने ही के लिये लायी हूँ।”

भाव में आकर सरोज अपना खत पढ़ने लगी—राजेश जी, नमस्ते ! तुम क्यों सदा मेरे प्रति अपने सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की बात चलाते रहते हो ? क्या मेरे पक्ष से अभी यह जानने के लिये तो नहीं, कि तुम्हारे प्रति मेरा समर्पण किस स्तर का है ! मुझे गलत न समझो, या समझोगे भी तो क्या, मैं अपने दिल की बात कहना चाहती हूँ, जो मैं अपने चारों ओर अनुभव करती हूँ, कि आज के मध्य-वर्ग का बुद्धिजीवी स्त्री-पुरुष किसी पर आस्था और चाह रखते हुये भी उसे अपना सम्पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं दे सकता, यह उसकी हार नहीं, विवशता है; क्योंकि उसके पास सम्पूर्ण ऐसी कोई अनुभूति ही नहीं होती। वह अपने जन्म से ही सम्पूर्णता की कामना करते-करते बीच ही में न जाने कितनी बार टूट जाता है। इस तरह वह अधूरा ही नहीं बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों में उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। और वे छोटे-छोटे टुकड़े इतने निरीह—निर्बल होते हैं कि जीवन की छोटी-सी बात, छोटी-सी कमी उन्हें सदैव सुलगाती रहती है। उन्ही सुलगने की स्थितियों में पति-पत्नी एक-दूसरे से मिलते हैं, और दोनों एक दूसरे के क्षणिक मिलन को आत्मसमर्पण समझ बैठते हैं। वस्तुतः वह दोनों का प्रकृति के प्रति आत्मसमर्पण है, एक-दूसरे के प्रति नहीं। क्योंकि दो टूटे हुये आपस में मिलते हैं—अपने में जोड़ लगाकर। और वे जोड़ बनावटी होते हैं, जिन में न जाने कितने

इस तरह के सूरख रह जाते हैं, जहाँ से वे बूद-बूद टपकते रहते हैं। यह विवशता है। इस तरह आज के पति-पत्नी एक दूसरे से मिलते नहीं, जुड़ते हैं, कभी अन्धी प्रकृति से, कभी विवाह के मन्त्रों और मडप की अग्नि से, और कभी यो ही, अपनी भयानक दासता से।

गीता ने सहसा सरोज के हाथ से खत छीन लिया।

“यह खत मैं न दूँगी तुम्हे।”

सरोज कातर दृष्टि से देखने लगी।

“मैं इसे अपने पास रखूँगी।”

“क्यों?”

“मैं नहीं चाहती कि तुम इतना तीखा खत उनके पास भेजो।”

“सत्य तीखा होता ही है—मैं क्या करूँ।” सरोज गम्भीर थी।

“वे तुम्हारे पति हैं।”

“थे, यह कहो!”

गीता चुप थी।

सरोज टहलती हुई कहने लगी, “मैं जुड़ना नहीं चाहती। ऐसे जुड़े रहने से सदा के लिये टूट कर अलग हो जाना अच्छा समझती हूँ, क्योंकि टूटने से एक ऐसी पैनी-तीखी धार बनती है जिससे कि टूटने वाला सदा अपने को सचेत, जागरूक रखता है।”

यह कहते-कहते सरोज के चेहरे पर खून बरस गया। वह बेचैनी से कमरे में टहलने लगी।

“हटाओ इन विषाक्त बातों को!” सरोज मुस्करान का प्रयत्न करती हुई गीता के पास बैठ गयी, “अब तुम अपनी सुनाओ।”

बरवश गीता उदास हो गयी। उसने गिरी हुई वाणी से कहा, “मैं तुम से बहुत कमजोर हूँ जिया।—इतनी कमजोर कि जब मैं तुम्हें सामने रखकर अपने को तौलती हूँ तो मैं अपने में कुछ नहीं पाती। जो कुछ पाती हूँ वह है अकारण लज्जा, भीरुता, हीनता, अस्पष्टता और सब से ऊपर एक अटूट बधन—संस्कारों का बधन, जिस से मेरी आवाज

बँधी है, ओर मेरी गति भी । मैं मन से चाहती हूँ कि मैं जो कुछ सोचती हूँ, सत्य समझती हूँ, उसे तुम्हारी तरह स्पष्ट रूप से कह दूँ । लेकिन मैं हार जाती हूँ । न जाने क्या भीतर से मुझे बाँध लेता है, और मैं असहाय रह जाती हूँ ।”

गीता एकाएक चुप हो गयी ।

“तो इस से क्या ?” सरोज ने कहा ।

“क्यों नहीं, मैं हिम्मत कर अपने वैवाहिक जीवन के एक दिन को तुम्हें सुनाना चाहती थी, लेकिन न सुना सकी । संस्कारों ने मुझे पस्त कर दिया, और अन्त में मैंने उसे फाड़ डाला !”

“लेकिन उसकी बात तो बता दो ।”

गीता कुछ बोली नहीं । उसने सरोज के हाथ से उस टुकड़े को ले लिया और हथेली में मल कर उसे धूल कर दिया ।

धूल आँधी के पख पर उड़ती है, आँधी सन्नाटे की गोद में । गीता की चेतना का यही पथ था ।

नीचे आँगन से पापा, माताजी और मंगल की सम्मिलित आवाज आने लगी । बीरू सीढियों से दौड़ता हुआ ऊपर कमरे में आया, और फूलती हुई साँसों में कहने लगा—“जिया, जीजा आगये, जीजा !”

“क्या ?” गीता के स्वर में कातरता थी ।

“लखनऊ से जीजा आ गये !”

और बीरू नीचे भाग गया । गीता लजाकर ठगी-सी रह गयी । सरोज मुस्करा दी, “कितना मानते हैं तुम्हें ! चार दिन भी उन्हें अकेले चैन नहीं मिलता ! इसी को मिले हुए पति-पत्नी कहते हैं ।”

“और जुड़े हुए ?” गीता ने शरमा कर पूछा ।

“हम लोग थे !” सरोज ने विल्कुल सहज भाव से कहा और वह कमरे से बाहर जाने लगी । चली गयी ।

गीता कमरे में निश्चेष्ट खड़ी थी । बहुत तेजी से उसकी आँखों में रँग उभर रहे थे, और उनमें अनन्त छोटी-छोटी रेखायें—जिनके केन्द्र-

विन्दु भी अलग-अलग थे—सरोज. .... गीता. .... गीता का पति  
देवन. .... गीता की डायरी. .... सरोज का पत्र ।

जीने पर आहट हुई । गीता तेजी से कमरे से बाहर आयी । सामने दृष्टि पड़ी । देवन अतुल प्यार से बाँह फैलाये हुए, जैसे, गीता पर टूट रहा था । गीता ने माथे पर अपना आँचल सम्हाला और पूजा भाव से वह नत शिर हो गयी । देवन के चरणों को स्पर्श किया फिर वह देवन के अक से लग गयी । उसी तरह अक में बँधी हुई वह अपने कमरे में आयी । देवन उस बीच, न जाने कितने शब्दों में अपना प्यार उड़ेलता रहा । गीता के ओठों पर लाज भरी मुस्कराहट थी । न जाने क्यों पलके झुकी जा रही थी । बड़ी देर तक उससे कुछ न बोला गया । उसे कही से भी न लगा कि उसके घर कोई मेहमान आया है, उसकी पूजा होनी चाहिये, उसे शिष्टाचारों में डुबोना चाहिये । देवन के अक से सटी उसे लग रहा था, जैसे अब वह अधूरी से पूरी हो गयी हो और पूरी होकर स्वभावतः वह आत्मविस्मृत हो गयी ।

“तुम बिन मुझसे रहा नहीं जाता गीता !”

गीता को लिये हुए देवन पलंग पर बैठने लगा । सहसा वह प्रकृतिस्थ हुई । देवन को बिठाकर स्वयं खड़ी रही । फिर उसने देवन को अपनी पूरी नजर से देखा ।

पूछा, “पापा और माताजी से मिल लिया ?”

“हाँ, क्यों ?”

“चलिये, नीचे ही चला जाय !”

“क्यों ?” देवन ने उसके दोनों हाथों को प्यार से थाम लिया ।

“वैसे ही !”

देवन बहुत प्रसन्न था । वह गीता की लाजभरी उलझन पर बिना ध्यान बिये हँसता रहा ।

“पहली बार आप यहाँ आये हैं. ....।”

गीता के मुख का समूचा गौर वर्ण चम्पई हो गया, देवन के हाथ

म उसकी दोनों कलाईयाँ इस तरह ढीली पड़ गयी, जैसे उस दिन इसी आँगन के मडप में सुहाग के समय ढीली पड़ गयी थी।

“आपका सामान कहाँ है ?” गीता ने सर उठाया।

“नीचे रख दिया गया होगा !”

“तो नीचे चलिये न, माताजी से कुशल-मंगल की बातें तो कर लीजिये।”

गीता को साथ लिये देवन हँसता हुआ जीने से नीचे उतरने लगा। जीना समाप्त होते-होते गीता पीछे हो गयी और देवन को आगे बढ़ा दिया।

जब वह आँगन में कुर्सी पर बैठ गया, तो गीता बरामदे की ओर मुड़ी। माता जी स्वयं नाश्ता तैयार कर रही थी। पापाजी नाश्ते की छोटी मेज पर नया कपड़ा सँवार रहे थे। मंगल इधर-उधर दौड़ रहा था। बिरू जीजा का सामान बड़े कमरे में रखवा रहा था। गीता सावधानी से माथे पर अपना आँचल सम्हाले गम्भीरता से अगीठी के पास खड़ी थी।

“लेकिन मैं चाय ज्यादा पसन्द करूँगा !”

गीता ने देवन की बात सुनी। वह इसे भलीभाँति जानती भी थी, लेकिन वह लाज-वश चुप खड़ी थी। माताजी ने चाय भी बनायी। वह खड़ी देखती रही। सब दूर से अनुभव करती रही—जब देवन नाश्ते के प्लेट से खाने का बहुत थोड़ा-थोड़ा सामान उठाता रहा, तब उसे सब नाश्ते मीठे लग रहे थे। चाय की घूट पी, तब उसे चाय ठंडी हो गयी थी। उस कमी को वह अपनी सिगरेट जलाकर पूरा करता रहा, लेकिन सामने माता और पापा जी बैठे थे।

गीता ने हिम्मत की। फिर से पानी खौंकाया। केतली को गर्म किया और उसमें खौलता हुआ पानी डाल कर ढाई चम्मच चाय डाल दी। और स्वयं उसे नाश्ते की मेज पर रख आयी।

नयी चाय पीकर, उसने सब से आँख बचाकर गीता को देखना चाहा। गीता पावे के पीछे अगीठी के पास चली गयी थी।

देवन कहने लगा, “मेरा कोई काम ही नहीं चल रहा है। दफ्तर देखता हूँ तो घर उजड़ने लगता है; और घर देखता हूँ, तो दफ्तर का सत्यानाश हो जाता है। मुझे विश्वास था कि मैं कुछ दिन अकेले रहूँगा, लेकिन बिना गीता के मेरा कुछ हो ही नहीं पा रहा है।”

गीता ने दृष्टि बचाकर देवन को देखा। दोनों ओठों पर मुस्कराये। गीता ऊपर भगी।

देवन अपनी बात पूरी करने लगा, “मैं चाहता अवश्य था कि गीता यहाँ कुछ दिन और रहती लेकिन मैं..।”

माताजी ने बीच ही में टोका, “एम० ए० के इस आखिरी साल को पूरा करने के लिये वह धुन बाँधे रहती है।”

माताजी पापा की ओर देखने लगी।

पापा ने कहा, “छोड़ो भी इन बातों को! देवन, अभी तो तुम पहली बार यहाँ आये हो। पहले हमें इसकी मर्यादा निबाहने दो, गित्ती की विदा-विदाई का तो कोई प्रश्न ही नहीं, तुम जैसा चाहो!”

देवन चुप रहा। बहुत शीघ्रता से वह अपनी चाय समाप्त करने लगा। बार-बार उसकी दृष्टि ऊपर छत की ओर उठती और शून्य से टकराकर रह जाती।

नाश्ते के उपरान्त वह क्षण भर के लिये भी माता और पापाजी के पास न रुका। ऊपर भागा। जीने को पार करते-करते उसने अपनी सिगरेट जला ली और गीता के सामने जा पहुँचा।

पखे के नीचे सिगरेट का धुआँ बहुत तेजी से पूरे कमरे में फैल जाता। उसमें आवर्त्तन होता और थक कर वह खिड़की से बाहर शून्य में मिल जाता। उसी धुएँ के आवर्त्तन और शून्य के नीचे गीता-देवन खड़े थे। देवन भाव से कह रहा था, “तुम मेरी मलका हो, तुम से अलग रह कर मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता।”

“तुम पूजा हो!” गीता ने जैसे अपनी अनुभूति को निःश्वास में पिरोकर कहा। उसकी आँखों में अनुराग बरस पड़ा। धीरे से अपने

माथे को उसने देवन के वक्ष पर टिका दिया। देवन ने अपनी शेष सिगरेट एक लम्बी, शक्ति पूर्ण कस में समाप्त कर उसके पूरे धुएँ को कमरे में बिखेर दिया। वह उसकी स्थूलता का स्पर्श करने लगा, और उसका अणु-अणु चीत्कारने लगा, कि गीता, गीता नहीं है, एक मनोरम पार्थविक स्वप्न है, परिवृत्ति है, जो उसकी बाहों में है।

गीता सचेत हुई। लजाकर अलग हट गयी। देवन ने दूसरी सिगरेट जलायी।

“चलिये नीचे, आप कपड़े बदल डालिये।”

देवन गीता को देख मुस्कराता रहा।

“बोलिये न ! आपकी अटैची यही उठा लाऊँ।”

“और क्या, मैं तुम्हारे पास आया हूँ नीचे के पास नहीं।”

गीता कमरे से जीने पर उतर गयी। देवन पलंग पर बैठ कर सिगरेट फूँकने लगा। इस बार उसने सिगरेट के बचे हुये टुकड़े को खिड़की से बाहर नहीं फेका, बल्कि उसे फर्श पर पटक दिया। लेकिन वह फिर भी न बुझा। देवन उठा, दाये पैर के जूते के नीचे उसे कुचलता हुआ धूम गया। कमरे की दीवारों से कुल पाँच तस्वीरें लटक रही थी—महात्मा, बुद्ध, कृष्ण, गाँधी, शिव-पार्वती, और स्वामी दयानन्द। सामने की आलमारी में केवल बीच की जगह छोड़कर सब किताबें सजी हुई थी। शायद उस जगह भी कोई चित्र था, परन्तु वह पीले रेशमी कपड़े से ढका था। देवन को जिज्ञासा हुई। वह आलमारी की ओर बढ़ा, आवरण को हटा ही रहा था कि अटैची लिये हुए कमरे में गीता प्रविष्ट हुई।

“देवता अपना चित्र नहीं देखते !”

गीता मुस्कराती रही।

“मैं देवता हूँ ?”

“मेरे।”

“लेकिन मैं तो तुम्हें देवी नहीं मानता !”

“मैं चाहती भी नहीं !”





किरनो में धीरे-धीरे गुलाबी होकर मुरझाने-सा लगा। वह कुछ सोच न रही थी, केवल धूप में खड़ी थी। और खड़ी ही थी। स्टोब की लो पर खौलता हुआ पानी गिरा, गीता भाग कर पहुँची, और स्टोब बुझा दिया।

ट्रे में चाय और नाश्ता सजाकर जैसे ही वह उठने जा रही थी, बाहर से माताजी आ पहुँची। गीता सहज सकोच में भर गयी।

माताजी ने छूटते ही टोका, “सर खोले पति के सामने नहीं जाना चाहिये।” गीता ने सर ढक लिया। कुछ बोली नहीं। प्रसन्नता से उसने माँ की ओर देखा।

“ला, चाय मैं दे आती हूँ, तब तक तू जल्दी से बालों को बाँध ले, माँग भरकर मुहाग के दो-एक गहने तो पहन। . . . पति ईश्वर हैं उसके सामने ऐसे नहीं रहते।”

यह कह कर माताजी ने ट्रे उठा ली। गीता रोकना चाहती थी, लेकिन भीरुतावश उससे कुछ न बोला गया।

जीने में उल्टे पाँव माताजी ट्रे लिये हुए लौट आयी। गीता ने जल्दी से बालों में कधी की, उज्ज्वल सीमत में सिदूर भरा और सर को आँचल से ढकती हुई वह माताजी के सामने खड़ी हुई।

आँचल से माँ के दोनों चरनो को अपने माथे लिया, और उनके हाथ से ट्रे लेकर वह जीने की ओर बढ़ गयी।

देवन बेखबर मो रहा था। गीता पास खड़ी-खड़ी क्षण भर सोचती रही। उसने धीरे में एक बार पुकारा, फिर झुककर उसके बिखरे हुए बालों को ठीक करती हुई वह जगाने लगी।

वह जगा तो, लेकिन आँख मूढ़े बेतरह अँगड़ाइयाँ लेता रहा। और जब उसने आँख खोली, आनत गीता का मुँह उसके सामने था। वह शिशुवत मुस्करा रही थी और उमकी स्वच्छ आँखें मनुहार कर रही थी। देवन ने हाथ बढ़ाकर उमके गले को कस लिया, और उमे पलंग पर ला गिराया। देवन ने उमे मिर में पैर तक देखा। उसे लगा,

जैसे कोई सफेद बत्तख उसकी आँखों में धीरे-धीरे दूर तक तैरती चली जा रही है ।

“चाय ठंडी हो जायगी ।” गीता ने सर ढकते हुए कहा ।

“हम ठंडी ही पीयेगे ।”

“क्या फायदा ?”

“नहीं पीयेगे ।” देवन ने कहा ।

फिर दोनों हँस आये । पल्लंग से उठने के लिये गीता देवन से आग्रह करती, तब देवन उसे गुदगुदा कर थका देता । चाय पीने के लिये जब वह मनुहार करती तब देवन उसे लजा देता । चाय अपनी जगह पर ठंडी हो गयी । कमरे के बाहर खुली छत की आधी धूप धीरे-धीरे खिसक कर दूर चली गयी ।

देवन सो रहा था । गीता पल्लंग से उठकर बेत के एक स्टूल पर बैठी थी । पीठ और सर को दीवार के सहारे टिका लिया था । मन अशान्त था । सर फिर से भारी हो रहा था ।

इसी बीच, नीचे से एक बार शारदा की आवाज उसके कानों में पड़ी थी । दूसरी बार बिमल की । गीता कई बार बन्द कमरे से बाहर निकलकर जीने तक गयी थी, लेकिन उसके पाँव नीचे उतरने से न जाने क्यों रुक-रुक गये थे । ठंडी चाय से भरी केतली, उदास प्याले और बासी नाश्ते जैसे शारदा, बिमल और उनकी ही तरह मुहल्ले की न जाने कितनी सखियों की वाणी बन रहे थे और गीता लाज-सकोच से झुकी सोचती जा रही थी ।

उस शाम को बनारस के सब सिनेमा-घरों में सामाजिक चित्र लगे थे । गीता के पापा और माताजी दोनों ने पता लगाया था, किसी में भी कोई पौराणिक या शिक्षाप्रद चित्र न था ।

इसलिये गीता देवन के साथ न जा सकी । उसे साथ देने के लिये पापाजी स्वयं सिनेमा देखने गये ।

माताजी के पूजा का समय हो रहा था । गीता डूब रही थी,

बीरन घर में न था। मगल भी इधर-उधर ढूँढ़ आया, लेकिन बीरन न मिला। गीता हीरान थी, उसी समय बीरन के रोने की आवाज सुनायी दी।

गली में बढ़कर गीता ने उसे प्यार से सँभाल लिया। आँगन में आते-आते उसने बता दिया कि उसकी चाँद-तारेवाली लड़ाकू पतंग भिल्लूपुर मुहल्ले की एक पतंग से काट खा गयी।

गीता ने उसे आठ आने पैसे दिये।

कहा, “बीरू एक बात मान जाओगे?”

“क्या?”

“पहले वादा करो कि मान जाओगे!”

“हाँ, मान जाऊँगा!”

गीता ने बीरू के नन्हें-नन्हें कंधों पर हाथ रखते हुए कहा, “माता जी पूजा करने जा रही हैं, अभी वह भगवान की आरती लेंगी भइया, आज तुम शंख बजा देना!”

“तुम क्यों नहीं?”

“वैसे ही, समझो कि मेरी तबीयत ठीक नहीं।”

“मैं क्यों समझूँ? क्या हो गया?”

गीता ने बीरन के दोनों हाथ पकड़ लिये, ‘वकवास मत करो बीरू! मान जाओ मेरे राजा भइये!’

बीरू मान गया। आरती के समय गीता आँगन से डोलकर जीने पर जा खड़ी हुई। धीमे-धीमे शंख बजता रहा। आरती की घटी गूँजती रही। माता जी के तन्मय-स्वर संगीत बिखेरते रहे—‘जय जगदीश हरे’।

जीने पर खड़ी गीता सोच रही थी—हिन्दू पत्नी का ईश्वर तो उसका पति है, बचपन से आज तक माताजी ने मुझे यही सिखाया है। फिर यह पत्थर का दूसरा ईश्वर क्यों? हो सकता है, पापाजी का ही प्रतिरूप हो। लेकिन पापाजी तो मूर्ति-विरोधी हैं...।

एक क्षण में गीता भावमय हो गयी। तेजी से दौड़कर वह अपने

कमरे में गयी। देवन के चित्र के सामने झुक गयी। एकान्त निष्ठा के स्वर उसके बन्द ओठों को रँग गये—देवन, मेरा देवता !

रात का भोजन देर में समाप्त हुआ। फिर भी देवन, पापा और माताजी के साथ उनके कमरे में बैठकर गीता की विदाई, उसकी एम० ए० की शिक्षा और अपनी घर-गृहस्थी के प्रश्नों की आपस में चर्चा करता रहा।

बाते समाप्त कर जब वह ऊपर गया, गीता तब तक सो चुकी थी। ऊपर धीरे-धीरे पखा चल रहा था। दीवार की रोशनी बुझी थी। कुछ दूर हटकर सरहाने छोटी-सी मेज पर नीली-धीमी रोशनी सिमटी थी। उसकी प्रतिछाया से शान्त कमरे में चारों ओर हल्का-सा प्रकाश फैला था। उस हल्के प्रकाश में देवन ने देखा, दीवारों से लटकते हुए उन पाँचों चित्रों को उलट दिया गया है। केवल सामने की आलमारी में देवन का चित्र ताजे पुष्पों से सजाकर रखा है।

देवन को हँसी आ गयी। वह अकेले फूटकर हँस पड़ा। पर गीता फिर भी न जगी।

दूसरे दिन शाम को गीता की विदाई हो रही थी। आँगन में गीता के तीन बक्स और होल्डाल निकाले गये। अपेक्षाकृत बड़े बक्स की ओर सकेत करके देवन ने पूछा, “इसमें क्या है ?”

“मेरी पुस्तकें हैं।”

यह कहकर गीता शिशु-चितवन से देवन को तकने लगी। वह कुछ क्षणों तक मौन-सोचना रहा।

धीरे से बोला, “दशहरे ही तक तो तुम्हें लखनऊ रहना है, जल्दी ही तो तुम्हें यहाँ लौटना है, फिर क्या करोगी इस बक्स को ले जाकर?”

गीता कुछ बोली नहीं। उसके मुख के भाव से ऐसा लगा, जैसे वह मौनरूप से कह रही हो, देवन जैसा तुम चाहो !

और वह हँस पड़ी, वह तब भी मुस्कराती रही, जब मगल उस बक्स को हटाकर ऊपर के कमरे में ले जा रहा था।

आँगन में पापा और माताजी चुप, उदास खड़े थे। पास शारदा, बिमल और सरोज खड़ी थी। बीरन भी खड़ा देख रहा था। देवन सिगरेट पी रहा था। गीता पाटली पल्ले की पीली बनारसी साड़ी पहने थी। रह-रहकर वह सावधानी से सर को ढकती रहती थी। लेकिन कनपटी के पास की सघन-घुघराली अलको पर वह बार-बार हाथ फेरती हुई भी उन्हें अपने वश में न कर पा रही थी। लगता था, कि आँगन की सारी हवा गीता की उन्ही पगली अलको के लिये बह रही है। ऐसे समय पर वह अपनी अलको पर अक्सर झुकला उठती थी कि मेरी ये कैसी अलकें हैं, सदा उड़ती-बहती रहती हैं। न उन्हें पिन किया जा सकता था, न चोटी।

दिन डूबते-डूबते बनारस से गाड़ी छूटी। दोनों सेकंड क्लास में बैठे थे। देवन जब गीता को ब्याह कर उसी गाड़ी से पहली बार लखनऊ के लिये रवाना हुआ था, तब वे दोनों फर्स्ट क्लास में बैठकर गये थे।

देवन को तब उस क्लास में भी बड़ी ऊमस और बेचैनी थी। वह अधीर हो रहा था। उस समय भी गीता को उसे बार-बार सँभालना पड़ा था। वह अधिकार कितना मादक था !

आज इस क्लास में देवन को ऊमस-बेचैनी न थी। भीतर से वह चंचल हो रहा था, जिस पर प्राप्ति सुख का मीठा-मीठा बोझ था।

डूबते हुये सूरज की अरुणिमा भागती हुई ट्रेन की खिड़कियों को जैसे पकड़कर उसे बेध देती थी। और उसकी कोमल किरने कभी देवन पर पड़ती, कभी गीता पर।

गीता बार-बार मुस्करा कर लाज से सर झुका लेती थी। तब उसकी अलके और भी भूरी लगने लगती थी और रेशम की तरह उसकी आँखों तक बिखर-बिखर जाती थी। हवा में डोलने लगती थी। देवन की दृष्टि उन्हीं रेशमी तारों में उलझी थी।

कई बार उसने गुनगुनाया—‘आह को चाहिये इक उम्र असर होने तक, कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक।’

लखनऊ स्टेशन पर जब गाड़ी पहुँची, देवन सो रहा था। गीता को ववड़ाहट हो रही थी। यह उसके लिये कोई अपूर्व बात न थी, वह सदा गाड़ी पर चढ़ने और उतरने के समय घबड़ा जाया करती थी। देवन को जगाया। दो कुली आये, और उसका सामान उतारने लगे।

प्लेटफार्म-ब्रिज पार करते-करते, ओम मिला—जो अपनी पत्नी, चित्रा के संग उनके स्वागत के लिये आया था।

कार नयी थी। देवन चित्रा से बात करते-करते कार की पिछली सीट पर बैठ गया। गीता संकोच में डूबी हुई बाहर खड़ी थी। फिर उसे आगे बैठना पड़ा।

कार जब शहर की ओर मुड़ी, ओम ने गीता से मुस्करा कर पूछा, “कैसा सफर रहा भाभी?”

उसी समय उसने सुना, पिछली सीट से देवन चित्रा से पूछ रहा था, “कैसे मित्राज हैं भाभी?”

गीता भीरु थी। चित्रा वाचाल। गीता का भोला मन सोच रहा था, कैसे लोग हैं, सब एक दूसरे की पत्नी को भाभी कहते हैं। पत्नी और भाभी के परे यहाँ और रिश्ते क्या नहीं हैं? मनुष्य परस्पर रिश्ते में बँधा है, और रिश्ते मर्यादा से निश्चित हैं।

हृष्यरतगज के सीने से सरकती हुई ओम की कार वाल्मीकि मार्ग पर मुड़ी और 'डी हेविन' के सामने रुक गयी ।

उस लम्बी इमारत के पाँच भाग थे, जो ए० बी० सी० डी इ० के नाम से बँटे थे । अर्थात् समूची दो मञ्जिलों की इमारत में स्वर्ग बाँध कर रखा गया था और उस स्वर्ग के पाँच लोक थे और उस पाँच लोक में अनेक योनि के वासी थे ।

'डी हेविन' के निचले भाग में दो परिवार थे । बायी ओर एक पजाबी परिवार था । दायी ओर एक लेडी डाक्टर थी । दोनों फ्लैट्स के बीचो-बीच ऊपर जाने के लिये जीना था । ऊपर जीना जहाँ जाकर समाप्त होता था, उसके दाये-बाये दो दरवाजे थे; जो अपने-अपने भागों में खुलते थे ।

दायी ओर एक बंगाली परिवार था । बायी ओर का फ्लैट देवन और गीता का था ।

जीने से गीता जब ऊपर चढ़ने लगी, न जाने क्यों उसके बाये पैर में कँपकपी होने लगी । उसे लगा, जैसे वह जीने ही पर गिर जायगी । उसने बढ़कर पीछे से देवन की कमीज पकड़ ली । देवन ने सम्हालकर उसे आगे कर लिया । कमरे में पहुँची तो उसे मतली-सी आने को हुई । बाथ-रूम में भगी और तेजी से कैं करने लगी ।

देवन उस दिन दफ्तर न गया । गीता के सरहाने बैठा रहा । आया को भी उसने रोक लिया । डाक्टर ने बताया था कि गीता को कम-से-कम दो दिनों तक पूरा आराम मिलना चाहिये । भोजन के नाम पर उसे ताजे फल और दूध देने को बताया गया था ।

उस दिन गीता, शेष दिन और पूरी रात सोती रही । दूसरे दिन उसकी तबीअत ठीक हो गयी । उसके सूखे मुख पर फिर तेज बरस पड़ा । रेखाये मुस्करा पड़ी । लेकिन देवन ने उसे पलंग से उठने न दिया । डाक्टर की राय के अनुसार उसे अब भी उसी तरह चौबीस घंटे आराम करने थे ।



आया को सौपकर देवन अपने दफ्तर चला गया। वहाँ से उसने दो बार चपरासी भेजे। गीता की तबीअत पूर्णतः ठीक थी। लच के समय वह स्वयं आया। गीता उस समय सो रही थी। देवन ने उसे जगने न दिया। वह बड़ी देर तक उसके सरहाने खड़ा रहा। उसकी मुदी पलके, चुप-खामोश सोयी हुई—सी उसकी रेशमी अलके, बद पतले ओठ, गभीर लम्बी नाक—इन सब रूप-विन्दुओं पर एक अजीब आकर्षक उदासी बरस रही थी।

एक क्षण के लिये उसने सोचा। उसके अभिन्न मित्र ओम का कहना था। गीता गोरी है, उसके मुख की गठन कोई बहुत अच्छी नहीं है। साधारण आँखें, सीधे-सादे ओठ-नाक, लेकिन पता नहीं, कौन ऐसी अदृश्य सुषमा इसके परे है, जो बरबस मन को मोह लेती है। उसके मुह को अनजाने छू देने की तबीअत हो जाती है।

देवन थोड़ा झुक कर अपनी दृष्टि में उस शोभा को बाँधने लगा। वह अदृश्य छवि इस गोरे मुख की सहज गभीरता तो नहीं है, जो इसकी अल्हड़ हँसी और बचपने स्वभाव के पार्श्व में छिपी रहती है। वह सम्मोहन इस साधारण मुख की उदासी तो नहीं है, जो सहज लेकिन अर्थहीन ढंग से इस पर रँगी रहती है।

वह मुस्करा पड़ा। दूर हट कर उसने सिगरेट जलायी और पैर दबाकर वह जीने की ओर बढ़ गया।

वह नीचे सड़क पर पहुँचा ही होगा कि गीता जग गयी। मुस्करायी और आया को पुकारा।

“साहब आये थे ?”

“आप को कैसे मालूम जी !”

“आये थे न !”

“जी ! लेकिन आप जग रही थी क्या ?”

“सो रही थी,” उठ बैठी और अलकों पर हाथ फेरती हुई कहने लगी, “नींद में मुझे एकाएक लगा, वे नीचे से ऊपर आये, जीने के

दरवाजे से उन्होंने शर्त रखी—गीता, अगर तुम अपनी आँखें मूंदे रहो तो मैं तुम्हारे पास आ जाऊँ, अगर नहीं मूंदोगी तो मैं वापस चला जाऊँगा। मैंने आँखें मूंद ली। वह दबे पाँव आये। मुझे मुसम्बी का रस पिलाया और मेरे सर, मुख पर हाथ फेर कर चले गये !”

यह कहकर गीता ने अलस मन से तकिये को उठाकर उस पर अपना सर पटक दिया।

“आये थे न ?” गीता ने सर उठाया।

“जी, अभी-अभी आये थे—और अभी गये हैं !”

“मुझे देखकर चले गये ! जगाया नहीं !”

“जी, वह आपके सरहाने कुछ देर तक खड़े रहे; फिर दब पाँव वापस चले गये !”

चार बजे।

गीता ने फल खाये। आया रसोईघर में साहब के लिये चाय की तैयारी में लगी थी। कमरे से निकल कर गीता बाहर आयी, खुले में टहलती रही। सड़क को निहारा, फिर रसोई-घर की ओर बढ़ गयी।

आया से पूछा, “तुम्हारा पति है न आया !”

“है तो साहब, लेकिन दाढ़ीजार मर गया है !”

गीता कँप-सी गयी।

आया ने कहा, “साहब, आज तीन साल हुए, वह यहाँ से कानपुर चला गया, वहाँ उसने दूसरी कर ली। उससे अब तीन बच्चे भी हैं।”

“और तुम्हारे ?”

“मेरे भी चार हैं—एक लड़की, तीन लड़के। लड़की का नाम गोविन्दी है—दस साल की है। माडेल हाउस में सिकरेटरी के यहाँ खाना बनाती है।”

यह कहते-कहते वह चुप हो गयी। गीता निश्चेष्ट दीवार के सहारे खड़ी थी।

आया फिर कहने लगी, “बड़ा लड़का आठ साल का है—किशुन

नाम है, मझला लड़का पाँच साल का है, मुन्नू नाम है। छोटे का नाम हरिइवा है।”

कुछ देर चुप रहने के बाद उसने फिर कहा, “किशुन और मुन्नू के बीच दो बच्चे और हुए थे, एक-एक महीना के होकर . . . . .”

आया आँचल से आँसू पोछने लगी। गीता वहाँ से हट गयी। माथा पसीने से भीग रहा था। बैठने के कमरे में गयी। देवन के चित्र को उठाया, आँचल से पोछा और बड़ी देर तक शून्य दृष्टि से उसे निहारती रही।

बरामदे के बाहरी दोनों पावों पर चम्मेली की लतर फैली थी, और दोनों ओर सूखी मिट्टी से भरे हुए कुछ सूने गमलें रखे थे। गीता के मन में अनायास एक भाव उठा। एक लोटा पानी लेकर वह आयी और सूखी मिट्टी से भरे हुए एक गमले में सब पानी डाल गयी। जली हुई मिट्टी में क्षण भर सनसनाहट हुई, फिर मिट्टी के प्यास ने उसे पी लिया। भर कर एक लोटा और ले आयी, उसको भी डाल दिया। मिट्टी उसे भी पी गयी। इसके बाद उसने तीन लोटे पानी और डाले। तब उसने देखा, आवाज करती हुई मिट्टी पक रही थी। उस पर पानी के छोटे-बड़े अनेक बुलबुले पैदा हो रहे थे, और स्वयं मिटते जा रहे थे। जैसे दिनों के भूखे-प्यासे पेट में सहसा अन्न-पानी पड़ जाय और सूखी अँतड़ियों में जीवन आँधी की भाँति उफान पड़े।

गीता अपलक देखती हुई खड़ी थी। यह गमला समाज है, इसकी प्यासी मिट्टी औरत है, इसमें डाला हुआ पानी पुरुष है। इसकी सनसनाहट, इसका पकना, कुदरत है और इसके मिटते-बनते बुलबुले इस समूची गति के सतान हैं—गीता लजा गयी। मुह फेरकर भगी। आया के पास आ खड़ी हुई, बोली, “तुलसी का पेड़ यहाँ कहीं मिलेगा आया ?”

“क्या होगा रानी बहू ?”

“मैं उसे गमले में लगाऊँगी, उस से घर पवित्र रहता है।”

“यहाँ तो उसका मिलना मुश्किल है, लेकिन देखूँगी !”

जीने पर कई बार भाँककर वह पलंग पर जा लेटी। थोड़ी ही देर बाद देवन आया। हँसता हुआ सामने खड़ा रह गया। गीता ने उसे पलंग पर बिठा लिया।

आखी में छलकते हुए भाव के बीच उसने कहा, “ऐसे नहीं आते !”

“कैसे ?”

“एक ही साथ स्वप्न में, और सत्य में भी ! ..... दोपहर को आये थे न !” देवन क्षण-भर चुप रहा, फिर बोला, “यह लखनऊ है बनारस-काशी नहीं, यहाँ काव्य की भाषा न बोला करो, कोई नहीं समझेगा !”

“तुम तो समझोगे न !”

“मैं समझ लूँगा.....लेकिन..... !

गीता ने उसकी वाणी को जैसे हराते हुए कहा, “वस, तुम्हीं सब कुछ मेरे हो, तुमसे परे जो कुछ है—वह मेरा नहीं है, वह हम नहीं हैं—वह ससार है।”

गीता थकी हुई हँसी और अलस मुद्रा से देवन के कंधे से झूल गयी।

दोनों चाय पी ही रहे थे कि नीचे से ओम की गाड़ी का हार्न सुनायी पड़ा। देवन और गीता आमने-सामने बैठकर चाय पी रहे थे। सहसा गीता उठी, और आकर देवन के पास बैठ गयी।

ओम के साथ चित्रा भी थी। शरीर पर नीले फूलोंवाली ‘चिकन’ साड़ी का पहनावा था। फूलों से सर का जूड़ा बधा था।

दोनों पास बले आये। सामने की कुर्सियों पर बैठे। गीता के सामने ओम था।

गीता की कलाई पकड़ते हुए उसने कहा, “अब तो सब ठीक है न !”

सबकी दृष्टि गीता पर जमी, पर वह बोली नहीं। उसका मुख आरक्त हो आया।

ओम बोला, “देवन, तुम-चित्रा चाय पियो, तब तक मैं गीता को डा० बोस के यहाँ दिखला लाऊँ !”

देवन स्वीकृति में हों करने ही जा रहा था कि गीता ने विरोध में सर हिलाया, देवन की ओर देखती हुई बोली, “मैं तो कल से ही बिल्कुल ठीक हूँ—कोई जरूरत ही नहीं !”

“तो आओ सब लोग टहल ही आयें !”

ओम ने चित्रा को देखा, चित्रा की दृष्टि देवन पर उठी, देवन ने गीता को निहारा। गीता मेज पर रखे हुए एक प्याले को देख रही थी !

“चलोगी गीता !” देवन ने पूछा ।

“जैसा कहो !” एक टक उसे देखने लगी ।

“अपनी इच्छा बताओ !”

“मेरी इच्छा तुम हो, तुम जाओगे तो हम जायेंगे !”

उसकी स्वच्छ-मूक आँखों में अतल गहराई थी। वह कितना भी अपने मनोभावों को छिपाती, उसकी दृष्टि की तरलता में सब साफ उभर आता था—जैसे निरभ्र आकाश के एक-एक तारे ।

ओम और चित्रा के साथ वे दोनों घूमने न' जा सके । उनके चले जाने के बाद वे दोनों बहुत देर तक उसी मेज के सहारे बैठे रहे । कुछ देर तक वे खुली छत पर घूमे । फ्लैट से नीचे उतर कर सड़क पर भी डोलते रहे, लेकिन दोनों बड़े थके-से लग रहे थे ।

ऊपर आये, बैठने के कमरे में गये ।

ऊपर बीचो-बीच बड़ी तेज रोशनी हो रही थी । गीता ने उसे बुझा कर सामने, दीवार की हल्की-नीली रोशनी कर दी । देवन के साथ सोफे पर बैठ गयी ।

देवन ने गीता के बाये हाथ को अपनी गोद में लाकर दबा लिया । दोनों ने भावपूर्ण आँखों से एक दूसरे को देखा ।

“एक बात पूछू ?”

“पूछो !” गीता और सटकर बैठी ।

“मैं देखता हूँ कि तुम चित्रा के सामने घबड़ा जाती हो, यह भी देखता हूँ कि तुम ओम को देखते ही हीन-सी हो उठती हो ।”

गीता सर झुकाए मूक थी ।

देवन उसकी नर्म हथेली पर अपनी अँगुलियाँ फेरता रहा, “एम० ए० मे पढती हो, लखनऊ मे तुम्हारा घर है, तुम्हारा मैं; अच्छी-से-अच्छी सोसाइटी और सर्किल मे आने-जाने वाला हूँ। ओम और चित्रा मेरे अभिन्न है। हमे भी उन्हें यही अधिकार देना होगा।”

गीता की भरी हुई दृष्टि ऊपर उठी, लेकिन देवन की दृष्टि से मिलते ही वह सूनी-उदास हो गयी ।

देवन कहता रहा, “मुझे तुम पर गर्व है गीता । लेकिन यह गर्व मेरे इस फ्लैट की दीवारों मे सीमित है । मैं इसे असीम रूप देना चाहता हूँ । बनारस छोटी जगह है—पिछड़े ख्यालात के लोग हैं वहाँ । लखनऊ बड़ी जगह है । यहाँ की दुनिया बहुत आगे चली गई है ।”

यह कहते-कहते उसने गीता के दाये हाथ को भी अपनी गोद में ले लिया और दोनों बहुत ही समीप से एक दूसरे को देखने लगे ।

“मैं चाहता हूँ तुम दौड़ कर इस दुनिया का साथ ले लो ।” सहसा शहर के उस भाग की बिजली बुझ गयी । चारों ओर से आवाज़े उठने लगीं ।

आया ने मोमबत्तियाँ जलायी । एक-एक सब कमरे में रख दिया । गीता उसी तरह सोफे पर पड़ी रही । देवन सड़क पर आया । घूमता हुआ रेटलज रोड की नुक्कड़ पर पहुँचा । वही से उसने हजरतगंज की ओर देखा । चारों ओर अन्धकार था । सीटियाँ बज रही थीं । कारें दीड़ रही थीं । घूमकर देखने-दिखानेवाले अन्धकार मे जैसे खो गये थे । विद्युत शक्ति से इतनी आगे बढ़ी हुई दुनियाँ एक ही क्षण मे जैसे असंख्य वर्षों पीछे चली गयी हो—अन्धकार-युग मे ।

देखते-ही-देखते गंज की रोशनी लौट आयी । पीछे से दौड़कर एक

ही क्षण में दुनियाँ फिर उतने ही आगे जा गयी। वही आ पहुँची, जहाँ से लोट कर पीछे गयी थी।

लेकिन रेटलज रोड पर बिजली न आयी। 'हेविन' में अन्धकार था। मोमबत्ती की रोशनी में देवन और गीता आमने-सामने बैठे हुए रात का भोजन कर रहे थे। गीता सब भूल कर प्रसन्न हो चली थी। उदास मुख पर उसके स्वयं का आलोक लौट जाया था।

वह अलको को सँभालती हुई मुस्करा पड़ी, "लेकिन 'डी०-हेविन' में तो प्रकाश है !"

"यहाँ तुम जो हो !" देवन मुस्कराया।

"नहीं, हम है।" और हँसकर गीता ने मीठी प्लेट से एक भरे चम्मच को देवन के ओठों पर रख दिया।

सोने के समय तक भी बिजली न आयी। कमरे में मोमबत्ती पिघल-पिघल कर जल रही थी। ऊपर का पंखा स्थिर था। गीता पंखा झल रही थी, देवन सो रहा था।

और गीता के मन में भी जैसे कुछ पिघलता हुआ बह रहा था और उनीदी आँखों में उसकी लहरे छलकती जा रही थी। उसके तप्त माथे पर कोई अपना हाथ रख कर सो रहा था, लेकिन उसकी मूक वाणी कह रही थी—मुझे तुम पर गर्व है गीता ! लेकिन यह गर्व मेरे इस फ्लैट की दीवारों में सीमित है। मैं इम असीम रूप देना चाहता हूँ। बनारस छोटी जगह है—बहुत पिछड़े ख्यालात के लोग हैं वहाँ। लखनऊ बड़ी जगह है। यहाँ की दुनियाँ बहुत आगे चली गयी है। मैं चाहता हूँ तुम दौड़कर इस दुनियाँ का साथ ले लो।

पसीने से तर उसके माथे पर रखा हुआ वह हाथ फिसल जाता है। गीता के मन ने देखा, वह गिरा हुआ हाथ सो रहा है और वह भी पसीने से तर है। उसने अपने आँचल से उसे पोंछ दिया और वह तेजी से पंखा झलने लगी। हाथ सूख गया लेकिन गीता का माथ और भी तर हो आया। जैसे गीता बढी हुई दुनियाँ का साथ लेने के लिये

बहुत तेजी से दौड़ी हो—ब्रेतहाश भागी हो, और थककर गिर गयी हो।

वह उसी भाँति पखा झलती रही। देवन सोता रहा। थोड़ी देर में मोमवत्ती गल कर बुझ गयी। कमरे में अन्धकार छा गया और अकाश गण उसे डर लगने लगा।

रात के पिछले पहर देवन की आँखें खुली। गीता के दाये हाथ में पंखा चल रहा था।

“तुम सोयी नहीं।”

“सो तो रही थी।”

“फिर यह पंखा कैसे चल रहा था?”

“इस तरह सो लेने की मेरी आदत है,” गीता ने कोमलता से कहा।

“बनारस के घर में, मेरे बचपन में बिजली न थी। मैं बारह साल तक माताजी के पास सोती रही। माताजी रात भर सोती भी थी और उनका हाथ पखा भी झलता था। यह आदत मैं माता जी से पा गयी।”

देवन हँस पड़ा। कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, “इस तरह बनारस में तूने माताजी की सारी अच्छी-बुरी आदतें सीख ली होगी!”

“बिजली न हो, और गर्मी लगे तो हाथ से पखा कर लेना बुरी आदत है?”

“और क्या, ये हाथ इस तरह थक जायेंगे, तो मुझे कस कर बाँधेंगे कैसे?”

“इस तरह!”

गीता ने उसे अपनी बाहुओं में कस लिया और अस्फुट स्वर से कहती रही, “ये हाथ कभी नहीं थकेंगे देवन, क्योंकि इन्हें तूने पकड़ा है, और ये तुझे समर्पित है।”

कई बार इसे दुहरा कर जब गीता चुप हुई तब उसकी मूक स्त्री शर्मा कर अपने-आप से कह उठी, मैं माँ होऊँगी। मेरी गोद में कोई सोयेगा। जिस रात को ‘हेविन’ में अन्धकार होगा, तब ये हाथ उसे पखा झलेंगे और हम सब सोते रहेंगे।



उस दिन आया न जाने कहा से तुलसी का एक मुर्झाया हुआ बिरवा ले आयी। गीता ने उसे गमले में लगाया। और वह आत्म-स्तोष से भर गयी। उसे लगा कि उसके घर का कोना-कोना पवित्र हो गया।

आया से उसने पूछा, “यहाँ पास-पड़ोस की औरते एक दूसरे के यहाँ बिल्कुल नहीं आती-जाती ?”

आया ने गीता को सूनी दृष्टि से देखा। उस से कुछ उत्तर न दिया गया। गीता बोली, “पिछली बार जब मैं यहाँ पहले-पहल आयी, लगातार दो महीने रही और इस बात को सोचती रही और आज भी सोचती हूँ कि.....।”

आया बीच ही में बोल उठी, और पास आ खड़ी हुई, “रानी बह यहाँ का और कायदा है। यहाँ औरते पहले साहब लोगो से मिलती-जुलती हैं; फिर वे साहब के घर आती हैं और उनकी बहू से मिलती हैं। पास-पड़ोस की भी वही दशा है। देखा नहीं साहब, बगल में आप से

सटा ही हुआ बंगाली बाबू काट फलैट है। तीन सयान लड़कियाँ हैं—दिन भर कालेज में पढ़ती हैं, शाम को गज घूमती हैं, वहाँ उनके साथी मिल जाते हैं, उनके घर जाती हैं—कभी पूजा होता है तो कभी डरामों, कभी नाच, कभी कुछ। पता नहीं रात को कब लौटती हैं ! बंगाली बाबू की औरत रोज बाल धोती है, सुखाती है, घटो चोटी करती है, बाजार जाती है, और थक कर सो रहती है। इन फलैटो की यही जिन्दगी है साहब; न खुद से प्रीत न खुदा से नाता, इनका पार लगाये विधाता ।”

गीता हँसती रही। आया बड़बडाती रही, “इन सब फलैटों में पोल है साहब, कोई सीधे से एक नौकर नहीं रख सकता। पेट काटकर तो रोज साडियाँ खरीदी जाती हैं। कोई सगा-सम्बन्धी आ जाय तो दूसरे दिन इत्ता-सा मुह बन जाय ! हाँ, एक बात है इन फलैटो में—बड़ी सफाई से लोग रहते हैं, बड़े करीने हैं। समय-समय के कपड़े, समय-समय के अलग-अलग कमरे। छोटे-छोटे बच्चे हाथ पैर तोड़कर बैठे रहते हैं—मजाल क्या है कि कोई चीज इधर से उधर हो जाये।”

लौटकर आया अपने काम में लग गयी। गीता घूमती हुई जीने के दरवाजे पर खड़ी हो गयी और अकारण वह जीने की सीढियाँ गिनने लगी—ऊपर से नीचे तक कुल सोलह सीढियाँ। वह चुपचाप ऊपर खड़ी रही। सहसा उसने देखा, एक चार वर्ष का स्वस्थ बच्चा नीचे से धीरे-धीरे चढ़कर जीने पर आता है और चौथी सीढी पर आकर बैठ जाता है। उसे ढूँढती हुई प्रायः आठ वर्ष की एक लड़की आती है और बच्चे को पकड़ने के लिये जीने पर बढ़ती है। बच्चा तेजी से दो सीढियाँ और पार कर लेता है लेकिन लड़की उसे पकड़ लेती है। बच्चा उससे विरोध करता हुआ रोककर मचल जाता है। गीता नीचे उतर आयी, उसने बच्चे को सम्हाल लिया।

लड़की जिज्ञासा से गीता को देखने लगी।

गीता ने स्नेह से पूछा, “तुम्हारा नाम क्या है ?”

“उषा ।”

“बेबी तुम्हारा नाम ?” गीता ने बच्चे के रूखे सर पर हाथ फेरने हुए पूछा ।

“छलद ।” बच्चे ने तुतलाकर कहा, बच्ची ने उसे सम्हाल दिया, “जी नहीं, शरद इसका नाम है, मेरी छोटी बहन कुमकुम, इसे सुर्ख कहती है ।”

“कहाँ रहती हो ?”

“न्यू हैदराबाद—गोमती के उस पार,” उषा बताने लगी, “नीचे लेडी डाक्टर के पास मेरी मम्मी आयी है—अभी वह नाखुश होने लगेगी ।”

उषा ने सुर्ख को बरबस अपनी गोद में उठा लिया । गीता ऊपर मुड़ी । सयोगवश जीने के ऊपर बगाली-पत्नी से इसकी भेट हो गयी । नमस्ते के लिये सहज ढग से उसके हाथ उठे ।

“अब तो आप रहेंगी न !” बगाली बहू ने पूछा ।

“जी, आप कही जा रही हैं क्या ?” बात करने के लिये गीता ने पूछा ।

“जी, मार्केट जा रही हूँ ।”

अकेलेपन से ऊब कर गीता अपने कमरे में लौटी । उसे उसका बनारस याद आया । उसके घर की सकरी गली याद आयी । उसकी माँ बीरू, पापा, याद आये । शारदा, विमल, सरोज की स्मृति आयी ।

देवन आफिस से आया । बहुत प्रसन्न था । आते ही उसने उमंग से कहा, “चलो, काफी हाउस चलेगे, जल्दी से तैयार हो जाओ !” गीता को सम्मोहन हो गया । उसने उस साड़ी का सूट पहना जिसमें सजकर उसने किसी सध्या को देवन के गले में सुहाग का हार पहनाया था ।

काफी पीकर दोनो हजरतगज के फुटपाथो और बरामदो मे घूमते रहे। 'मेकअप' से विधी हुई औरतो की सापेक्षता मे जब देवन गीता को देखता, वह आत्म-गौरव से भर जाता, और सोचता, गीता यहाँ पीछे नहीं है। वह कहीं भी पीछे नहीं रह सकती। वह इतनी कोमल टहनी है कि उसे चाहे जिधर भी वह आसानी से मोड़ सकता है।

देवन ने कहा, "कल इतवार है, हम दिन का भोजन यही करेगे—या 'कपूर' मे या 'क्वालिटी' मे!"

गीता कुछ बोली नहीं। उसके मुख पर निर्मल शान्ति और प्रसन्नता थी, क्योंकि उस पर कहीं से भी, न ऊपर से पोती हुई सफेदी थी, न लाली, न ऐसा कुछ था, जिससे किसी को अन्यथा भ्रम हो जाय।

एक बजे का समय था। देवन गीता के साथ कपूर होटल के एकान्त मे बैठा था। दोनो आमने-सामने थे। बीच मे प्लेट्स थीं।

देवन कह रहा था, "यहाँ का कायदा है, हर सप्ताह मे कम-से-कम एक दिन का भोजन ऐसी ही जगह हो। इसमे नयापन तो है ही, इसके साथ-ही-साथ जीवन का स्तर बढ़ता है। जीवन-स्तर मे विकास के अर्थ है, जीवन की उत्तरोत्तर प्रगति!"

गीता को पापाजी की बात याद आ रही थी, "जैसा भोजन, वैसा ही रक्त, जैसा रक्त वैसे विचार और जैसे विचार वैसे कर्म।" उसने अपने मन के इन उठते हुए भावो को सहसा काट दिया—हो सकता है कि ये सिद्धान्त पुराने होकर अर्थहीन हो चुके हों। उसने हँसते हुए कहा, "ऐम्मी प्लेट्स मै तुम्हारे लिये अपने घर सजा सकती हूँ।"

देवन ने कुछ उत्तर न दिया। उसका ध्यान कहीं और बँट गया था। गीता आग्रह करती रही।

देवन ने उत्तर दिया, "यही तो लखनऊ और बनारस का अन्तर है।"

गीता का मन कहीं से छू गया लेकिन इस प्रभाव को उसने अपने मुख पर न आने दिया। भोजन के बाद देवन ने काफी पी, सिगरेट सुलगाता रहा। गीता प्रसन्न मन से उसके सामने बैठी रही।

ढाई बजते-बजते दोनो वहाँ से उठे । घर आये । आया अपने घर चली गयी थी । गीता का मन थक चला था । देवन का मन अब भी हल्का था ।

“कही और नहीं चलोगी ?” देवन ने विनय से पूछा ।

“जहाँ चाहो ।”

गीता ने देवन के दोनो हाथ जकड़ लिये ।

“चलो मैटनी शो देखेंगे ।”

तस्वीर देखकर दोनों फिर साढे छः बजे लौटे । गीता का मन अब तक बेहद थक चला था । आतेही वह स्नान करने लगी ।

कपड़े बदल कर जैसे ही वह कमरे में आयी । नीचे सड़क से ओम के कार की हार्न सुनायी दी । दूसरे ही क्षण जीने से देवन को पुकारती हुई उसकी आवाज भी आयी । देवन नीचे गया । गीता चमेली के लतर की पास गयी ।

नीचे से देवन की आवाज आयी, “मेरा पर्स फेक देना ।”

दौड़कर गीता ने पर्स उठाया । पर्स खाली था । जल्दी से उसने अपना बक्स खोला । इस बार चलते समय माताजी ने उसे जो रुपये दिये थे, वह एक लिफाफे में रखा था । अब तक उसने उन नोटों को गिना तक न था । सम्भवतः दस-दस के पाँच नोट थे । सबको उसने उसी तरह देवन के पर्स में सजा दिया और जीने से उतरकर वह सड़क पर गयी ।

“मैं अभी आता हूँ !”

“आप भी चलिये न !” ओम ने कहा ।

बिना कुछ बोले गीता जीने की ओर बढ गयी । कार चली गयी, फिर उसे ‘धन्यवाद’ न कहने की याद आयी ।

आया ने पूछा, “रानी बहू ! दोपहर का खाना अच्छा मिल गया था ?”

गीता चुप थी । वह तुलसी के गमले में पानी देने लगी । फिर न जाने क्या उसके मन में उठा, वह गुथे हुए आटे का एक दीपक बनाने लगी ।

आज चारो ओर बिजली का प्रकाश था। लेकिन उसने अपने आँगन का बल्ब बुझा ही रखा। आटे के दीपक में उसने घी भरा, स्वच्छ रुई की दो बत्तियाँ डाली और दीपक को जलाकर उसने तुलसी के हरे बिरबे के पास रख दिया।

हाथ जोड़े वह मंत्रमुग्ध बैठी रही। फिर उसने आँखें मूंद ली, लेकिन उसके कंठ से कुछ फूटा नहीं—न प्रार्थना का कोई स्वर, न याचना की कोई बोल। वह निस्पन्द—मौन बैठी रही—बैठी रही। उस क्रियाहीनता में भी उसे जैसे कोई अकथनीय संतोष मिल रहा था।

दस बजे। साहब नहीं आये। आया के जाने का समय हो गया। लेकिन वह गीता को अकेली छोड़कर अभी जाने को न थी।

गीता के पास बैठी-बैठी वह कहने लगी, “रानीबहू! मेरी लौडिया गोविन्दी बता रही थी कि माडेल हाउस में, उसके साहब के बगले के बिल्कुल पीछे कोई कसमीरी साहब था। उसकी बड़ी लड़की पिछले दो साल से तपेदिक की मरीज थी। बेटे के पीछे साहब ने पानी की तरह रुपये फूका। लेकिन न जाने कैसे—क्यों बीच ही में दइउ ने बिजली गिरायी। परसों रात को मरीज बेटे ने अपने बाप को पिस्तौल से दाग दिया।”

“दाग दिया।” गीता चौक पड़ी और दूसरे ही क्षण वह हतप्रभ हो गयी।

“यह सच है?”

“जी हाँ, बिल्कुल।”

“लेकिन लड़की ने नहीं दागा होगा, वह क्यों दागती?”

“साहब, लड़की ने खुद कबूल किया है, और उसकी बहनो ने तो उसे रंगे हाथ पकड़ा।”

गीता अपने को वहाँ से हटाने लगी, पूरी शक्ति से, जैसे वह भाग निकलने को हुई। उठ कर देखा, तुलसी के पास का दीपक मन्द पट रहा था, उसने ओर घी डाल दिया।

ग्यारह बजते-बजते देवन आया। वह थका-मा था। उदास भी। गीता उसे प्रसन्न करने लगी।

देवन ने पूछा, “पर्म मे कितना रख दिया था ?”

“पता नहीं,..... क्यों ?”

“कहाँ से निकाला था रुपये ?”

गीता मुस्कराती रही। देवन पूछता रहा।

“माताजी ने दिये थे !” गीता हँस दी।

“पचास थे, सब उठ गये !”

“तो क्या हो गया, उठ जाने दो !”

गीता ने उसके बिखरे बालों में अपनी अंगुलियाँ डाल दी। स्नेह से उसके कंधे पर हाथ फेरती रही।

देवन अपने-आप कहने लगा, “हम लोग गज पहुँचे। साथ चित्रा भी थी। घड़ी की एक दुकान में गयी। उसने अपने लिये एक घड़ी पसन्द कर ली। रुपये उसी में चले गये।”

“चले जाने दो !”

गीता उसे साथ लिये हुए खाने की मेज पर गयी। भोजन के बाद उसने देवन को तुलसी के पास जलते हुए दीपक को दिखाया।

“तुलसी की पूजा की है ?”

“नहीं, सिर्फ दीपक जलाया है; मेरी पूजा तो तुम हो !”

थका हुआ देवन पलंग पर जा लेटा। गीता पायताने बैठी रही। वह एक टक देवन को देखती, उसके ओठ खुलने को होते, लेकिन वह बहुत तेजी से अपनी दृष्टि फेर लेती, ऊपर देखती फिर उसे शून्य में टिका देती। और उसके मुख-भाव से यह स्पष्ट हो जाता, जैसे कोई आवाज उसके

भीतर से बाहर आने के लिये तड़प रही है, ओर उसे वह अपनी पूरी शक्ति न देवा रही है ।

तीन बार उसने ऐमा किया । आवाज दबती गयी । उसे दबाकर वह जैसे पीती गयी । लेकिन चौथी बार वह आवाज दब कर भीतर न गयी, क्योंकि भीतर कुछ और भर आया था, वहाँ स्थान न था । वह आवाज तब उसकी आँखों में फैल कर बरस गयी ।

सहसा देवन के चौड़े वक्ष पर गीता ने अपने मुख को छिपा लिया और निःशब्द रोने लगी ।

देवन हैरान रह गया ।

भरे कंठ से गीता बोली, “तुम से एक बात कह रही हूँ देवन !... कहना नहीं चाहती थी, पर विवश हूँ !”

“हाँ, हाँ, कहो न ! इसीलिये रो पड़ी !”

“नहीं, रो इसलिये पड़ी कि मैं तुमसे कह रही हूँ ।”

कुछ क्षणों तक गीता चुप रही ।

फिर बोली, “ओम तुम्हारा साथी है, लेकिन मैं उस से डरती हूँ । इसलिये नहीं कि वह पुरुष है; बल्कि इसलिये कि वह तुमसे अधिकार प्राप्त है !”

“साफ कहो” । देवन ने घबड़ा कर कहा ।

“कह दूँ ।” गीता सर उठाकर उसकी आँखों में देखने लगी ।

“पिछली बार जब मैं आयी थी । ओम ने हमें दावत दी थी । रात को जब हम लोग उससे विदा ले रहे थे, तुम चित्रा से बात करते-करते आगे बढ़ गये थे । ओम ने सहसा मेरे दाये हाथ को पकड़ लिया, और उस पर अपने ओठ रख दिये थे ।”

देवन हँस पड़ा । गीता निस्तेज थी ।

वह गीता के कंधे को थपथपाते हुए बोला, “ये तो आज के सामाजिक व्यवहार हैं । तुम्हें पता नहीं, तभी तो मैं कहता हूँ, तुम्हें अभी बहुत आगे बढ़ना है !”



गीता बहुत क्षणों तक चुप रही। लेकिन उसके ओठ कँप रहे थे। वह सयत स्वर से फिर बोली, “अच्छा इसे छोड़ो; एक दिन जब तुम, मुझे ओम के बँगले पर छोड़ कर, वही से सीधे दफ्तर चले गये थे वह मुझे अपनी कार पर बिठा कर यहाँ छोड़ने आया था। उसने मुझे पीछे न बैठने दिया, अपने पास बिठाया। रास्ते भर बार-बार मेरे कंधे पर हाथ रखता रहा।”

देवन बीच ही में बोल उठा, “क्या बच्चों की तरह छोटी-छोटी बातों पर दुखी होती हो, क्या हो गया इस से?”

“इससे कुछ नहीं हुआ?” गीता ने रूँधे कंठ से कहा। कुछ देर चुप रही, फिर बोली, “तभी मैं सोचती थी कि ओम की क्यों इतनी हिम्मत है, तो तुम्हारी मित्रता और उसकी व्यवस्था ने प्रेरणा दे रखी है।”

देवन गीता के बचपने पर फिर हँस पड़ा, “बड़ी भावुक हो तुम, अच्छा अब सो जाओ!”

“पिछली बार तुम्हारी वर्षगाँठ पर वह रात के खाने पर बुलाया गया था। तुम अपने किसी साथी को छोड़ने नीचे चले गये थे। मैं इस कमरे में खड़ी-खड़ी अपने कपड़े बदल रही थी। वह चोरो की तरह आया और पीछे से मेरा दामन पकड़ लिया। मैं क्रोध से पागल हो उठी थी। कुछ क्षण बाद तुम बाहर से आये थे। वह सब पर पर्दा डालने के लिये हँसने लगा था। तुम ने भी कहा था, “परिहास को इतनी गभीरता से लेती हो!”

गीता सिसक पड़ी, “वह परिहास नहीं था देवन, पाप की भूमिका थी। तुम्हारी मित्रता और तुम्हारे बहुत आगे बढ़े हुए समाज का विषय था।”

देवन आतंकित हो गया। उठ बैठा, दृष्टि सूनी होने लगी।

गीता कँपते स्वर से कह बैठी, “उसने कई बार मुझ से कहा था तुम में मेरा भी हिस्सा है!”

देवन का मुख आरक्त हो गया। गीता फूटकर रो पड़ी और उसके सीने में मुख छिपाये, उसे अपनी बाहुओं में जकड़े रही।

टूटते स्वर में गीता ने कहा, “इस बड़ी हुई दुनिया को पकड़ने के लिये तुम मुझे मत दौड़ाना; नहीं तो हम रास्ते ही में टूट जायेंगे देवन !”

कुछ क्षणों के बाद देवन उठा। पखे की गति उसने तेज कर दी। पलंग पर आकर बोला, “अब तुम अपनी चिन्ता मुझ पर छोड़ कर सो जाओ गीता ! मुझे यह नहीं पता था। सुबह होने दो !”

गीता कहने लगी, “मुझे उसकी साया से घृणा है। उस दिन जब तुमने कार पर मुझे उसके पास बिठा दिया था। स्टेशन से यहाँ पहुँचने तक मेरा कठ पित्त से भर गया था, उसी से मैं आते ही बीमार हो गयी थी। . . . . बोलो देवन मैं क्या करूँ ! मैं बहुत पिछड़ी हूँ क्या ?”

करुणा से वह देवन को देखने लगी। और उसने जब यह देखा कि देवन अशान्त हो रहा है, वह अपने को बदलने लगी। वह प्रयत्न करने लगी कि देवन सो जाय, और देवन चाहने लगा कि गीता सो जाय।

गीता का मन बरस चुका था। उसके आकाश की आँधी वह चुकी थी इसलिये धीरे-धीरे उसकी शान्त आँखें मुदने लगी थी। लेकिन वह आँधी देवन के आकाश में फैल रही थी और प्रयत्न से मुदी हुई उसकी आँखों में वह गति अबाध थी।

गीता सो गयी; जैसे न जाने कितनी देर तक का रोया हुआ कोई शिशु माँ के पार्श्व से लग कर चुप हो गया हो। देवन आँख मूदे, अपने अशान्त भावों में जैसे पलंग से उठता, बहुत तेजी से जीने को पार करता हुआ सड़क पर जाता, रेक्सा करता और ओम के मकान के पास उतरता। लेकिन वही उसके पाँव रुक जाते। उसके आवेश के पख गिर जाते और वह लौट आता। घर वापस आकर गीता को देखते ही वह फिर आवेश से लौट जाता। उस मकान में घुस जाता, सामने चित्रा मिलती, और वह फिर हार जाता।

मन के भावों में, बारह बजे रात से वह दो बजे तक इसी तरह

झिड़ता-फिरता रहा। रात के अपार सन्नाटे में वह एक बार ओम के भी सामने गया, लेकिन वह कुछ पूछ न सका। पूरी शक्ति बटोर कर वह अन्तिम बार गया। ओम से अत्यन्त दीन वाणी में उसने कहा—यह बुरी बात है ओम ! वह मुकराया, हँसा, कहने लगा—अब बुरी क्यों है ? देवन ने गम्भीरता से कहा—गीता मेरी पत्नी है और वह दूसरे विचारों की है। ओम ने उत्तर दिया—चित्रा भी मेरी पत्नी है और उसके भी विचार विचार हैं।

देवन नत शिर खड़ा रहा। ओम ने स्नेह से उसके कंधे पर हाथ फेरते हुये कहा—किस माया में पड़ गये यार मेरे ! जीवन आनन्द के लिये है, द्वन्द्व के लिये नहीं। यह कह कर ओम वहाँ से गायब हो गया। सामने चित्रा आयी—समर्पण लिये हुए। उसके दाये हाथ को देवन ने कई बार चूमा, उसके खुले कंधे पर वह हाथ फेरता रहा। दामन स्पर्श करता रहा। उसे लिये हुए वह 'जू' देखने गया, सिनेमा में बैठा रहा। गोमती के किनारे-किनारे बड़ी रात तक घूमता रहा।

एक सन्ध्या, अनेक सन्ध्या में घूमती गयी।

अनेक सन्ध्या, अनेक रातों में बीतती गयी। वह किस्ती है छोटी-सी। दोनों जल में हैं। ऊपर चन्द्रमा है।

उसे ध्यान आया। गोमती के पुल के पास आती हुई किस्ती। बिजली के तार उनके ऊपर से आर-पार खिंचे थे। और जल में तार की परछाइयाँ इस तरह टेढ़ी-मेढ़ी होकर साँप बन रही थी।

‘मैं साँप पालना चाहता हूँ।’

‘मैं उन्हें स्पर्श करूँगी !’

# गीता

का० ४



शकुन जिया के मुख पर चेचक के कही-कही बड़े ही खूबसूरत निशान थे । यह मेरी पहली सुधि और मेरे शिशु-मन की पहली अनुभूति थी । दौड़कर मैंने शीशे में अपने मुख को झाँका । मेरे मुख पर तो एक भी न था । मैं छू गयी । रोती हुई माताजी के पास पहुँची, हठ करने लगी कि मेरे भी मुख पर जिया की तरह गोल-गोल निशान बनवा दो । पहले तो माता जी हँसी थी, लेकिन जब वह मेरी जिद से पक गयी, तब उन्होंने मुझे एक कमरे में बन्द कर दिया था—यही मेरे बचपन का वह आदि चित्र है, जिसे मैं अपनी पहली चेतना में बाँध कर चली हूँ । तब मैं चार वर्ष की थी और शकुन जिया मुझसे पाँच साल बड़ी थी ।

एक दिन माताजी अपने बालों में तेल डालकर कधी कर रही थी । मैं पास बैठी थी । जब वह बाल बाँध चुकी फिर उन्होंने अपनी माँग में सिन्दूर भरा और माथे पर सुहाग की बिन्दी लगायी । उतनी देर में मैं भी अपने मुह को धोकर माताजी के पास आयी,

बोली—‘मेरे भी बाल बाँध दो।’ दो लाल फीतो ने उन्होंने मेरी चुटिया नर दी। मैं बोली, ‘मेरी भी माँग भर दो’। माताजी ने-समझाया कि जब तेरी शादी हो जायगी तब तेरी माँग भरी जायगी, अभी नहीं। मैं रो पड़ी कि अभी मेरी शादी करो। माताजी बड़ी देर तक मुझे वह-लाती रही लेकिन मेरी जिद बढ़ती रही। हार कर उन्होंने मेरे माथे पर एक ताल बिन्दी लगा दी। मुझे सन्तोष न हुआ। दोपहरी हुई। वह पड़ोस में किसी के घर गयी। मैं उनके कमरे में गयी। सिन्दूर-दान खोला, शीशा लिया और अपनी माँग में सिन्दूर भरने लगी। शकुन जिया को दिखाने के लिये मैं उसके पास गयी। देखते ही उसने मेरे गाल पर एक चाँटा मारा। मैं रोयी नहीं, बोली, ‘जिया तुम भी भर लो, माता जी नहीं है।’ उसने मुझे भीचते हुये डाँटा, ‘तेरा भेजा तो नहीं खराब हो गया है’। मैं फिर भी न रोयी, डरी भी नहीं, क्योंकि माताजी भी तो करती थी।

शकुन माताजी को बुला लायी। मुझे देखते ही वह अपना सर थाम कर बैठ गयी। जिया चाहती थी, लेकिन मैं पिटी नहीं। रनेह में पकड़ कर माताजी मुझे अपने कमरे में ले गयी। और सर में तेल डाल कर मेरे सिन्दूर को मिला दिया।

तब मैं पाँच वर्ष की हुई। मुहल्ले में चौधरी की लड़की सुभद्रा का विवाह होनेवाला था। विवाह के दो दिन रह गये थे। रात को रोज गीत होते थे। माताजी के साथ मैं भी जाती थी। रात को लौटकर जब मैं माताजी के पास सोने लगी, तब मैंने पूछा, ‘सुभद्रा के घर सब लोग गाते हैं, सुभद्रा क्यों नहीं गाती?’

‘उसी की तो शादी है,’ माताजी ने बताया, ‘जिसकी शादी होती है, वह नहीं गाता!’ मैंने टोका, ‘उसे खुशी नहीं होती क्या?’ उसे तो सिन्दूर लगाने को मिलता है, अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने मिलते हैं!’ ‘उसे लोक-लाज निभानी पड़ती है’—माताजी ने बताया। मैंने पूछा, ‘लोक-लाज क्या? यही उसके दूल्हे का नाम है?’

‘पागल है तू ! सो जा !’

मैं रूठ कर पापाजी के पलंग पर चली गयी। उन्होंने दुलार से मुझे अपने पास सुला लिया। प्यार करते हुए वह कहने लगे, ‘पहले मेरी गित्ती की शादी होगी, तब शकुन की होगी।’

मैंने ठुनकते हुए कहा, ‘मैं नहीं करूँगी पापा !’

‘अरे क्यों !...तब तो तुझे सिन्दूर लगाने को मिलेगा !’

‘लेकिन जो अपनी शादी में गाने को नहीं मिलता !’

‘मिलता क्यों नहीं !’

घर ही पर माताजी मुझे हिन्दी पढ़ाने लगी। मैं अच्छी तरह लिखना-पढ़ना दोनों सीख गयी। तब शकुन जिया ‘गर्ल्स हाई स्कूल’ में पढ़ती थी। मेरा नाम ‘आर्य कन्या पाठशाला’ में लिखवाया गया था।

तब मैं आठ वर्ष की हो रही थी। शकुन जिया के साथ-साथ मैं सड़क पर बड़ रही थी। प्रातःकाल था; चलते-चलते एकाएक जिया घूम कर खड़ी हो गयी। मैं भी घूमी। जिया न जाने कहाँ क्या देख रही थी। मेरी दृष्टि अपनी और जिया की परछाइयों पर गड़ी थी और मैं मन-ही-मन जिया की परछाई से अपनी परछाई की लम्बाई की तुलना कर रही थी। मेरी परछाई उससे बहुत छोटी थी।

जिया फिर आगे बढ़ी, लेकिन मैं वहीं ठुनकती खड़ी रही। जिया ने मुझे बार-बार पुकारा, मनाया लेकिन मैं गुमनुम वही जमी रही।

मैं आगे न बढ़ी, लौटकर घर चली आयी। माँ से निपटती हुई रोने लगी कि मेरी परछाई छोटी और जिया की उतनी लम्बी क्यों है ?

दूसरे वर्ष मेरा भी नाम शकुन जिया के स्कूल में लिखवा दिया गया। हम लोग ठेले पर आने-जाने लगे। हम दोनों के अतिरिक्त उस ठेले में दस लड़कियाँ और बैठती थी। उमर में, सब से छोटी मैं ही थी।



बसेरा लेती हुई चिड़ियों की तरह सब आपस में चहचहाती रहती थी, निरुपाय मैं सब का मुह ही देखती रह जाती ।

ठेले के पीछे-पीछे एक दिन दो लड़के चले आ रहे थे । एक ठेले में दृष्टि गड़ाये हुये मुस्करा रहा था, एक न जाने क्या गा रहा था । सब लड़कियाँ चुपचाप थी । सब की दृष्टि नीचे झुकी थी । पता नहीं उन्हें क्या मार गया था । मैं लड़को को अपलक देख रही थी । शकुन जिया ने कई बार डाँटा कि मैं उधर न देख, पर मैं देखती रही ।

ठेले में दो चिट्ठियाँ डालकर वे पास की गली में मुड़ गये । मैंने दोनों चिट्ठियाँ उठा ली एक पर लिखा था—‘मेरी हृदय रानी शकुन्तला, दर्जा दस’ और दूसरे पर लिखा था—‘कान्ती रानी, कक्षा नौ’ ।

कान्ती का पत्र मैंने उसकी गोद में डाल दिया, शकुन जिया ने दूसरे पत्र को मुझ से छीन लिया और उसे फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया । कान्ती के पत्र को क्षण भर में कई लड़कियों ने पढ़ लिया । वह रो पड़ी ।

शकुन जिया दर्जा दस न पास हो सकी । किसी को भी इसका दुख न हुआ । केवल मुझे हुआ । अकेले मुझे स्कूल जाना पड़ता था ।

मैं आठवीं कक्षा में पढ़ रही थी । राजवशी मेरे पड़ोस का एक लड़का नौवीं कक्षा में था । हम दोनों एक दूसरे के घर आते-जाते थे ।

जाड़े के दिनों में कोई छुट्टी का दिन था । मैं उसके घर गयी । वशी छत पर पतंग उड़ा रहा था । मैं ऊपर गयी । पास खड़ी-खड़ी देखती रही, वह दूसरे मुहल्ले की एक चाँद-तारे पतंग से अपनी पतंग लड़ा रहा था । एकाएक उसकी पतंग कट गयी, लेकिन न वह हारा न उदास हुआ । मेरे पास आ खड़ा हुआ । सूनी-सूनी दृष्टि से कभी वह बेमतलब मेरी आँखों में देखता, कभी दृष्टि नीचे झुकाकर, दूर हट जाता और अपना सर खुजलाने लगता, अँगुलियों से अपने सवारे हुये बालों को विखेरने लगता ।

मैंने उस से पूछा—‘क्या है वशी ?’ कई बार मैंने उससे पूछा ।

लेकिन वह वेमतलब अपने-आप में परेशान होता रहा। वह कुछ कहना चाहता था, लेकिन कह नहीं पा रहा था।

अन्त में उसके मुह से फूटा, 'मैं तुम से प्रेम करता हूँ।' और यह कहते हुये उसका मुख आरक्त हो गया।

मैं कुछ समझी नहीं। न मुझमें कोई प्रतिक्रिया ही हुई। मैं सहज दृष्टि से उसकी व्याकुलता देखती रही। उसने सर-भुकाकर फिर जैसे प्रार्थना-स्वर में कहा, 'तुम नहीं करोगी गीता?'....

मैं बोली, 'मैं इस खेल को नहीं जानती, मुझे स्कूल में भी कभी नहीं खेलाया गया !'

बड़ी देर तक वशी चुप-नि स्पन्द खड़ा रहा, फिर पराजय के स्वर में बोला, 'तब नहीं करोगी ?'

'करूँगी क्यों नहीं ? पहले माताजी से पूछ आऊँ'

यह कहकर मैं तेजी से नीचे गयी और अपने घर भागी। मेरे धूँखने पर माताजी ने मुझ से कुछ न कहा। वह पापाजी के पास गयी और दोनों बड़ी देर तक आपस में न जाने क्या निर्णय करते रहे।

उस शाम से वशी और मेरे घर का आना-जाना बन्द हो गया। मैं ने मन-ही-मन में अनुमान लगाया कि वशी जरूर कोई बहुत बुरी खेल खेलना चाहता था।

परीक्षा के दिन थे। एक दिन किसी ने मेरे नाम भी ठेले में एक पत्र डाला। मैंने कई बार अपने उस पत्र को पढ़ा था और घर आकर मैंने उस पत्र को पापाजी को दे दिया।

उसी बीच ऐसी ही घटना दो बार और हुई। सुबह का स्कूल था और उसी दिन मेरी बारहवीं वर्षगाँठ थी। मैं घर रोक ली गयी।

अपनी पूजा में माताजी ने मुझे साथ बिठाया। मेरे माथे पर चन्दन-रोरी का तिलक लगाकर उन्होंने मुझे रामायण की एक बिल्कुल नयी पोथी दी। अतीव भक्ति से कहा था, 'बेटी ! हम अपने आपको एक सीमा में बाँधकर चलते हैं, वही सीमा हमें अनन्त शान्ति

देती है। मैं वैष्णव हूँ, पूजा, विश्वास और आस्था मेरी सीमाये हैं और यही तुम्हारे शरण हैं।'

शाम को पापाजी ने अपने कुछ आत्मीय जनों को चाय पर बुलाया था। मेरी कुछ सहेलियाँ भी आयी थी। चाय पर, बातों-ही-बातों में पापाजी ने कहा, 'मैंने स्कूल में गीता को पढ़ाने का इरादा छोड़ दिया है। शिक्षा के इस वातावरण में कोई लाभ नहीं। आर्यकन्या की वास्तविक पाठशाला उसका घर है, जहाँ उसके चरित्र-विकास में स्वस्थ सस्कारों का योग मिले।'

उस शाम को जब सब लोग चले गये, रात हुई, शकुन जिया चौके में गयी, माँ की पूजा समाप्त हुई, तब मैं चुपके से माँ के अन्धेरे कमरे में गयी। और रोने लगी। बहुत देर तक रोयी।

रात भर मुझे नीद न आयी। अन्त में मेरे त्रस्त मन ने यह सवत्प किया कि—मे पढ़ूंगी—किरी भाँति भी पढ़ूंगी।

मेरी पढाई घर पर आरम्भ हुई। तीसरे वर्ष मैं हार्ट स्कूल की परीक्षा में बैठी। द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। उसी वर्ष शकुन जिया की शादी हुई। वह पति के घर दिल्ली चली गयी।

मैं घर में बहुत प्रसन्न थी। पापा ने मुझे अध्ययन की सारी सुविधाएँ दे रखी थी। मैं माताजी की पूजा में सहयोग देती, भोजन बनाती, पापाजी की सेवा करती—न जाने कहाँ से मुझमें जगार बल और कार्य की प्रेरणा भरती जा रही थी। मैं अपनी एफ० ए० परीक्षा के लिये तैयारी करती थी, फिर भी घर में मुझे गृहस्थी के कार्य न आँटते थे।

उसी घर के परिसर, उसी पापा और माताजी के एकांत स्नेह के वातावरण, वैष्णव-निष्ठा तथा आर्य सत्य के सस्कार—अपने घर-आँगन की परिक्रमा में, घर-गृहस्थी के चरणों पर बडती हुई मैंने एक दिन बी० ए० की परीक्षा पास कर ली।

पापाजी को मुझ पर गर्व था। उन्हें घर-बाहर कहीं भी मेरी प्रशंसा

करते हुये सकोच न होता था —‘गीता आदर्श लडकी है । सचमुच आर्यकन्या है ।’ माताजी की मैं मुह बोली लाडली थी । मेरी ही नींद वह सोती-जागती थी । जहाँ कही भी जाती, किसी से मिलती-जुलती, यह बिना मुह से निकाले न मानती—‘जैसी वैष्णव कन्या होनी चाहिये —मेरी गीता उसी तरह है ।’

ये बातें मुझ पर अपना प्रभाव डालती गयी । मैं अपनी अच्छाइयों और जीवन के आदर्शों के प्रति सर्वथा जागरूक रहने लगी । मुझे जीवन के सत् व्यापारों से एक तीव्र मोह होने लगा । स्वाध्ययन और उसकी आशानीत सफलताये धीरे-धीरे मेरे भविष्य के प्रति अनोखे स्वप्न-जाल बुनती गयी—आदर्श परनी की, सतीत्व की, गृहणी और मातृत्व की ।

इन सस्कारों को एक अद्भुत थाती मेरे व्यक्तित्व को भी मिली । मुझ में मौन-भावुकता आयी । हृदय समवेद्य हो गया । अन्तर से भीह होती गयी और सब की सामूहिकता से मुझमें अज्ञात ढंग से हीन-ग्रथियाँ भरती गयीं ।

मेरे चारों ओर तृप्ति थी, सुन्दर भाव थे, सम्पूर्णता थी, अनेक सत् आदर्श थे । मैं सर्वथा स्नेह में पली, मैंने लाड-प्यार के ही गीत सुने । किसी तरह का भी मेरे घर में कोई सघर्ष न था । एक ओर शख-ध्वनि और आरती की लय थी—भक्ति की शुचिता थी । दूसरी ओर आर्य-धर्म की गरिमा थी और घर में सब से बड़ी सगति थी—दो विरोधी विश्वासों का स्वस्थ समन्वय ।

जीवन ने मुझे तपाया नहीं । अभावों ने मेरी परीक्षा न ली । सासारिकता से मैं असम्पृक्त रही, घर की मान्यताओं ने मुझे असत पदों से निस्सग रखा । विरोधी-प्रतिकूल स्थितियों के बीच से मुझे स्वयं अपना

रास्ता न ढूँढना पडा। मैं जैसे ही चलने को हुई, एक परम्परागत, आदर्श राजपथ पर मैं मोड़ दी गयी।

मेरा रूप आदर्शों से अनुशासित होकर मूर्त हुआ—इसे वह विकास न मिल सका जो अत्यन्त सहज और सम्पूर्ण होता है। जिसके विकास क्रम में ऊँची-नीची खाइयाँ पड़ती हैं, अनेक असत-विरोधी पथ मिलते हैं, जिन्हें पार करने की प्रक्रिया में पैर अनेकों बार डगमगा जाते हैं—व्यक्ति का स्वयं भटक जाता है। उस भटक, भूल और डगमगाहट में व्यक्ति अपने बाहर-भीतर को संतुलित करता है। उसकी आत्मा जगती है और एक दिन उसकी इकाई अपने आप में अपूर्व होती है। वह परम्परा को पीटकर नहीं रह जाता, बल्कि उसके विकास-क्रम में एक नूतन क्रान्तिकारी पृष्ठ जोड़ता है।

आज मैं अपनी स्वयं की पूर्णता में इस रिक्तता का अनुभव करती हूँ। लगता है मैं कहीं भी निरपेक्ष नहीं हूँ। मैं अपने भर में जब अपने स्वयं को ढूँढती हूँ, तो उसे कहीं नहीं पाती, चारों ओर पाती हूँ आदर्श, सत, भावुकता, परम्परा की स्त्री—जो असह्य वर्षों से उसी तरह से चली आ रही है—कहीं भी अपने में नया पृष्ठ नहीं जोड़ पाती। मैं, अपने स्वयं में अन्य को पाती हूँ—माताजी को, उनके वैष्णव विश्वासों को पापाजी को—उनके आर्य सत्त्यों को, एफ० ए० बी० ए० के अध्ययन-क्रम में आये हुये अनेक चरित्रों, इतिवृत्तों और दर्शनों को। पता नहीं कितने बोझ के नीचे मेरा स्वयं दब गया!

हाँ, तो मैं कह रही थी कि घर में ही रह कर मैंने बी० ए० पास कर लिया। सच कहती हूँ, मुझे इन परीक्षाओं को पास करने में कुछ लगा ही नहीं। पाठ्य-क्रम में आयी हुई पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने आर्य कन्यापाठशाला लाइब्रेरी, टैगोर तथा एनीबेसेट लाइब्रेरी की अनेक हिन्दी-अंग्रेजी साहित्य की पुस्तकें पढ़ डाली थी।

उन्ही दिनों मेरे मामा इलाहाबाद से बदल कर बनारस आये। पापाजी ने कमच्छा में उनके मकान को प्रबन्ध किया। उनकी एकलौती

लडकी सरोज प्रयाग विश्वविद्यालय से इतिहास में एम० ए० थी। जब वह बी० ए० में थी, तभी उसकी शादी जौनपुर के एक बहुत बड़े वकील-परिवार में हुई थी। पति आगरा के एक डिग्री कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे।

राजेश और सरोज की गृहस्थी दो वर्षों तक अनुपम थी। उन दिनों मैंने दो बार पति-पत्नी को देखा था। एक क्षण के लिये भी दोनों एक दूसरे से अलग न होते थे। उन्हें देखकर मुझे ऐसा लगा था, जैसे मेरा स्वप्न उनके लिये मूर्त हो गया था। मुझे सहज स्पर्द्धा हुई थी सरोज से।

फिर इस बार बनारस में मेरी भेट जब सरोज से हुई, मैं आतंकित रह गयी। उसने राजेश से अपने को बिल्कुल अलग कर लिया था और पूर्णतः निरपेक्ष हो जाने के प्रयत्न में थी। मेरी समझ में नहीं आता था, पर वह मुझ से निश्चित भावों में कहती थी—समाज ने पति-पत्नी को जिस रास्ते पर चलाया था, कभी वह राजमार्ग था लेकिन अब वही अनेक पगडंडियों और मोड़ों में बँट गया है, हमारे लिये अब एक नया पथ चाहिये।

पहले जब मैंने सरोज जिया को देखा था, मुझे लगा था स्त्री पूर्णतः स्त्री है—एक पुल की भाँति—जो सब को मार्ग देती है—दो विरोधी कूलों को जोड़ देती है।

पापाजी मेरे विवाह के लिये चिन्तित हुये। विवाह की मुझे भी बड़ी साध थी। पत्नीत्व के प्रति मुझे सहज मोह था। पूर्ण विश्वास था कि नारी का गन्तव्य यही है।

हिन्दी साहित्य से एम० ए० प्रथम वर्ष की तैयारी करने लगी। उसी वर्ष मेरा विवाह तै करने के लिये पापाजी सब तरह से प्रयत्नशील थे।

मेरे पापाजी के सब से घनिष्ठ मित्र आर्यादाब थे। लखनऊ में

होम्सोपैथ डाक्टर । कट्टर आर्य समाजी । जब ने मेरे घर आने, मेरी माता जी घबड़ा जाती थी । यज्ञपन ने ही में उन्हें देखती आ रही थी । बेहद मानते थे वह मुझे । मैं उन्हें 'आर्यादादा' कहती थी ।

आर्यादादा अमीनाबाद में लाला शीतल राय के पारिवारिक डाक्टर थे । शीतल राय लखाती थे । कैंगर वाग में 'प्रिटिंग, स्टेशनरी और पेंसिल' की एक 'ट्रेडिंग कम्पनी' थी । अपनी कोठी थी । पिछले पन्द्रह वर्षों में रेलवे सरकार के ठीकेदार थे । पहली शादी से उनके दो पुत्र हुए—हरी मोहन और देवेन्द्र मोहन । माँ के स्वर्गवास के बाद, उसी वर्ष हरीमोहन की मृत्यु हो गयी । केवल देवेन्द्र रह गया । शीतलराय ने दूसरी शादी की । इसमें उन्हें लगातार चार लड़कियाँ और दो लड़के हुए ।

फिर भी देवेन्द्र का उन्हें बहुत खयाल था । बेहद मानते थे ।

देवेन्द्र राजनीति से एम० ए० था । बड़े-से-बड़े विवाह के प्रस्ताव आने लगे । लेकिन वह कई वर्षों तक विवाह से उदासीन रहा ।

इसी प्रस्ताव को आर्यादादा ने मेरे पापा के सामने रखा । लखनऊ जाकर पापा ने इस प्रस्ताव की परीक्षा ली । एक तो वह आर्यादादा का प्रस्ताव था, दूसरे उनका पूर्ण समर्थन इसलिए पापा जी सन्तुष्ट ही थे । प्रश्न था केवल देवेन्द्र की अनुगति का । शीतलराय को आर्यादादा ने तैयार ही कर रखा था ।

पापा और माताजी के साथ मैं लखनऊ आयी—आर्यादादा के घर । शाम को उन्होंने शीतलरायजी के समूचे परिवार को चाय पर बुलाया । सब ने मुझे देखा । बातें भी की ।

हम लोगों को भी आपस में बातें करने का अवसर दिया गया ।

मैं सर झुकाये चुप थी । उन्होंने बातें की थी—'आप हिन्दी से एम० ए० कर रही हैं, प्रीवियस हैं इस वर्ष, मार्च में इम्तहान हो जायगा ?'

मुझे बड़ी घबराहट थी, मैं मुस्करा तक न पायी—बहुत चाहती थी ।

देवन मेरा सुहाग था—इसलिये वह विवाह के अन्य असख्य प्रस्तावों से उदासीन रहा—होना ही था। मेरे लिये वह उदासीनता अनुराग हो गयी।

मैं ए५० ए० प्रथम भाग की परीक्षा में बैठी। पास हो गयी। परीक्षा-फल निकलने के ठीक सोलहवें दिन मेरे व्याह की तिथि पडी थी। उस तिथि के आते-आते न जाने क्यों मैं बहुत दुबली हो गयी। भीतर अनुपम आह्लाद से भरा था, मेरे सारे स्वप्न, सारी आकाशाएँ जैसे मूर्त हो रही थी, लेकिन बाहर से मैं पीली पड रही थी। खूब खाती-पीती थी, मन में, व्याह के गीत सुन-सुन कर उन्हें गुनगुनाती भी रहती थी, तब भी पता नहीं क्यों ?

बार-बार लगता था, जैसे कोई ऐसा सत्य मुझ से छुटा जा रहा है, जिसे मैं फिर कभी नहीं प्राप्त कर पाऊँगी।

पिया की सुहागिन बन गयी मैं। नयी कारों की एक लम्बी रेखा शीतलरायजी की कोठी पर रुकी। मेरे बहूषण की पूजा हुई।

सातवें दिन बनारस से मेरे पापा आये। मुझे विदा करा ले गये। मुहल्ले की ओरते, मेरी सहेलियाँ मुझे देखने आयी। माताजी ने पाते ही मुझे जैसे अपनी भूखी गोद में भर लिया। मेरे शरीर का सारा पीलापन चला गया था। गुलाबी-सा कोई बिल्कुल नया रंग मुझ पर चढ रहा था। मुख पर नया राग था, आँखों में कुछ भर रहा था। कीमती आभूषणों से मैं सजी हुई थी और अब मैं जब किसी की भी ओर अपनी आँख उठाती, या सम्हलकर कहीं भी चलती, तो मुझे लगता था, जैसे मेरे अन्तर में कोई बैठा हुआ मेरी हीन-ग्रन्थि को धीरे-धीरे खोल रहा हो।

मैं अपनी मनोहर गति की एक सुन्दर कथा हूँ जैसे।

पूरे चार दिन भी न बीते थे, लखनऊ से देवन का तार आया। पापाजी मुझे लखनऊ स्टेशन तक छोड़ने आये। और वही से विदा लेकर वे दूसरी गाडी से लौट गये।

देवन ने पापा से कुछ न कहा। मुझे भी न कुछ संकेत दिया। ओम से



मेरी पहली भेंट तभी हुई थी। उम्मी की कार में मैं बैठाया गया। मेरे देवन का अन्तरंग मित्र यही ओम है—तभी मैंने जान लिया।

कार लाटूस रोड की ओर न बढ़कर, हजरतगज की ओर बढ़ी। मैंने प्रश्न-दृष्टि से देवन की ओर देखा। उसने मेरा दायाँ हाथ दबाते हुए कहा, 'इस बार मैं तुम्हें अपने घर ले चल रहा हूँ।'।

मेरा कौतूहल ओर जग गया। उसने थकी हुई हँसी से कहा, 'सब जान जाओगी। पहले चलकर अपना घर देखो।'।

हजरतगज के सिरे पर पहुँच कर गाडी रेटलज रोड पर मुड़ी और एक नये ढग से लिपे-पुते फ्लैट के सामने रुक गयी। मैं ऊपर गयी। पूरी गृहस्थी मुझे सजी हुई मिली। आया चौके में बैठी थी। तीन कमरे, एक रसोईघर, एक स्नान-घर, बैठक, वारजेनुमा छोटा-सा आँगन—और जैसे नये घर की प्रत्येक इकाई मुझे अपना परिचय दे रही हो।

देवन ने मुझे बताया। मेरे बनारस जाने के बाद, उसी रात से ही शीतलराय और उनकी पत्नी से कुछ गम्भीर बातें हुईं। दो दिनों तक उनकी पत्नी ने देवन के पिताजी का खाना-पीना हराम कर दिया।

हारकर शीतलराय जी ने अपनी सम्पत्ति से देवन का हिस्सा उसके नाम कर दिया। कैशर बाग की ट्रेडिंग कम्पनी उसके जिम्मे कर दी गयी।

देवन की स्वतन्त्र इकाई देखकर ही शीतलरायजी ने उस दिन पानी पिया था।

मैंने अनुभव किया था, जीवन के इस अप्रत्याशित मोड़ से देवन बहुत ही सन्तुष्ट था। जैसे एकाएक उसकी इच्छा ही फल गयी हो।

अजीब बेचैनी से देवन ने सारी रात काटी । सुबह हुई, उसे थोड़ी-सी शान्ति मिली । गीता के सामने से अपने को छिपाता हुआ वह न जाने कहाँ भागने के लिये तैयार हुआ । तेजी से जीने की ओर बढ़ा, सहसा पीछे से उसके कंधे को किसी ने थाम लिया ।

“नागता करके जाओ ।”

एक पल वह निश्चेष्ट रहा, फिर धीरे से बोला—

“मैं अभी आ जाता हूँ ।”

“तब में भी चलूँ ।”

बिना कुछ बोले देवन नारते पर लौट पड़ा । दो-दो कप चाय पी, लेकिन दोनों में कोई बात न हो सकी । जैसे दोनों की एकात सम्पूर्णता में अपने-आप कोई मौन वार्तालाप चल रहा था ।

गीता बहुत पास आकर देवन से बोली, “मुझसे कोई भूल तो नहीं हुई ?”

बिना कुछ बोले, देवन चलने लगा, जीने की ओर बढ़ा ; गीता ने

तेजी से बड़कर कहा, “शायद सारा दोष मेरा ही हो..... मत जाओ... मुझे ही समझा दो न !”

उसने धूमकर देखा तक नहीं। बहुत तेजी से चौराहे की ओर बढ़ा। कहीं न रुका। सीधे ओम के घर के सामने उतरा। घड़ी में देखा, कुल साढ़े छ बजे थे। ओम तो साढ़े सात के बाद उठता है—तभी चित्रा भी उठती है—यह सोचकर देवन वहाँ से मुड़ा और निर्व्याज्य स्टेशन की ओर चला गया। आठ बजे फिर लौटा। सड़क पर उसके पाव जमे थे, वह स्वयं जैसे बहुत तेजी से चक्कर काट रहा था—‘डी हेविन’ से लेकर ओम तक, गीता से चित्रा तक और अपने से ओम तक।

उसके कातर मन ने कहा—अभी तो वे चाय पी रहे होंगे। देवन ने सिगरेट जलायी। दो कश खींचकर सिगरेट के शेष टुकड़े को बहुत जोर से फेंका। और स्वयं को ओम के पास ले चलने के लिये पूरी शक्ति से बाँधने लगा। लेकिन जितनी शक्ति से वह अपने को बाँधता, जिस आवेग से वह स्वयं को कसता, उसी गति से वह स्वयं ढीला पड़कर फिसलता जाता।

उसी भाँति उमने एक सिगरेट और फूँककर हवा में उड़ा दी। गीता को अपनी आँखों में बाँध, ओर एक बार जैसे वह अपने को मुट्ठी में कसे हुये ओम के बरामदे में पहुँचा दिया। बन्द किवाड़ के शीशे से उसने भाँका, दृष्टि में और कुछ न आया—अपने को ही देखा। ओर डर-सा गया।

तेजी से उल्टे पाँव लौटने लगा। सहसा भीतर से ओम और चित्रा की सम्मिलित पुकार आयी। वे बिल्कुल सामने आ पहुँचे।

ऊपर से देवन को हसँना पड़ा और भीतर से वह उसी क्षण पसीने से तर हो गया।

आते ही ओम ने उसके कंधे पर अपना दायाँ हाथ रख दिया। बायीं ओर से चित्रा सटकर चलने लगी। देवन मशीन की भाँति उन से जुड़ गया—हँसी में, बातों में, और उस वातावरण के अपने सस्कार में।

उन संस्कारों में एक आवेगपूर्ण अतीत था, उससे निस्संग होने के लिये देवन अब भी अपने को बाँधने का प्रयत्न कर रहा था।

सब एक साथ बैठे चाय पी रहे थे।

ओम ने पूछा, “गीता को साथ नहीं लाये ?”

देवन चुप था।

चित्रा बोली, “रात भर जगते रहे क्या ?”

देवन को मुस्कराना पड़ा, “नहीं तो !”

“कुछ थके-थके-से लग रहे हो !”

“रात ज्यादा पी ली थी क्या ?” ओम ने कहा, और तीनों हँस पड़े।

देवन के भीतर का तनाव धीरे-धीरे ढीला होता गया। जिन तारों को वह कैसे हुए आया था, उनमें से किसी एक ने भी कोई आवाज न की। सब गूँगे निकले।

नौ बजे तक वह लौट आया और गीता से बिना कुछ बोले दफ्तर आगने की तैयारी करने लगा।

गीता सामने आयी। अपलक देवन की ओर निहारती रही—अतुल विश्वास था उस दृष्टि में। देवन ने उसे देखा। उसे हिसाब देना पड़ा, “मैं ओम से मिल आया, सारा सम्बन्ध मैंने उससे तोड़ लिया !”

बड़ी देर तक, भरी दृष्टि से गीता उसे निहारती रही।

“उसने क्या कहा ?”

“कहता क्या, कुछ कहता तो जवान न खींच लेता।”

कई बार देवन ने अपनी मुट्ठी भीची, उसे ढीली की, फिर उसके हाथ ढीले पड़ गये ! जैसे उसके कब के दबे हुए क्रोध ने स्वयं अपनी सहज अभिव्यक्ति ढूँढ़ ली।

तुलसी के बिरवे में दो नयी कोपलें निकली थी ।

तीन बजे का समय था । गमले में पानी डालकर गीता उसे निहारनी हुई खड़ी थी । दो नयी कोपलें ! कितनी पवित्र... कितनी कोमल !!

पतले-से आँगन में बवार की धूप फैली थी । बाहु-कंधा, पीठ-वक्ष पर बिखर कर उसके बाल सूख रहे थे और वह खड़ी-खड़ी गमले में तुलसी के बिरवे को तक रही थी ।

गीता धूप में खड़ी थी । तुलसी पर छत की छाया पड़ रही थी । कोमलों के नन्हें मुख पर पानी का एक छोटा-सा उज्ज्वल बूद अँटका था ।

गीता की दृष्टि उसी बूद में खो गयी । जल के कोमल बूद को धीरे-धीरे स्थूलता मिली—एकाएक वह जड़ से चेतन हुआ और गंगा की मिट्टी जैसे वर्ण का एक स्वस्थ-दुधमुहा बच्चा वहाँ खेलने लगा । वह किलकारियाँ मारता हुआ तुलसी के बिरवे को पकड़ना चाहता था । गीता ने मुस्कराकर उसके नन्हें-से हाथ में उसे पकड़ाना चाहा, फिर वह रो पड़ा । चित्र टूटा ।

गीता की आँखें भर आयी । आँख मीचती हुई वह छाये में चली आयी और खड़ी-खड़ी बालों में कधी करने लगी ।

तभी जीने से एकाएक देवन के आने की आहट हुई ।

सहज प्रेरणा से गीता ने झट सर ढक लिया ।

बेहद थका-सा देवन उसके सामने आ खड़ा हुआ । गीता मुस्करायी—मुस्कराती रही और उसके दायें हाथ को पकड़े हुए वह कमरे में चली गयी । साय सोफे पर जा बैठी । फिर उठने लगी, “चाय बना लाती हूँ ।”

“नहीं, बैठो !”

“सुबह तुम से झूठ बोला था,” देवन सर झुकाये कहने लगा, “उस समय ओम से मेरी भेंट ही न हो सकी !”

“कोई बात नहीं !” गीता ने उसके कंधे पर अपना सर टेक दिया । कुछ क्षणों तक देवन मौन रहा ।

एकाएक झटके से बोला, “जो अभी मैंने तुम से कहा, यह भी झूठ है, मेरी ओम से भेट हुई थी; मैं उस से कुछ न कह सका।”

“तो क्या हुआ ! झूठ तो सभी को बोलना पड़ता है, लेकिन जिसे सत्य भी बोलना पड़ जाय, वह झूठा नहीं है।”

गीता ने स्नेह से उसके कंधों को हिला दिया। कमरे से बाहर गयी, चाय बनाकर, ट्रे में लिये हुए वह लौटी।

देवन ने शान्ति से चाय पी। पर कुछ बोला नहीं।

गीता कहती रही, “जब कह न सके तो अब ओम से कुछ न कहना। वह तुम्हारा दोस्त है; मैं निवाह लूगी।”

“निवाह लोगी !” देवन का मुख आरक्त हो गया, “कैसे ?”

“अपनी रक्षा-सहित !”

“लेकिन क्यों ?”

देवन ने इतने धीरे से कहा, जैसे वह द्वन्द्व स्वयं उसमें घनीभूत होकर उससे चिन्तन कराने लगा।

शाम को देवन कहीं टहलने न गया। समय से पूर्व ही उसने भोजन किया और वह सोने चला गया।

आया बर्तन साफ कर रही थी। गीता आँगन में खड़ी थी। ऊपर अधूरा चाँद था, और उसकी पूरी रोशनी से उदासी बरस रही थी। आया कुछ गुनगुना रही थी। गीता ने आज दोपहर को उसके लिये पूरी आस्तीन का एक ब्लाउज सिला था। पूरे महीने के वेतन के साथ गीता ने उसे पाँच रुपये इनाम में दिये थे।

काम समाप्त करके आया गुनगुनाती हुई नीचे चली गयी। गीता एक बार अधूरे चाँद की ओर निहारकर भीतर कमरे में सुड़ी, जैसे अधूरे चाँद से ऊबकर वह पूरे चाँद को पकड़ने के लिये बढी हो।

एकाएक नीचे से आया लौटी, बताया, “नीचे ओम बाब की घर वाली आयी है—कार पर ही बैठी है—अकेली है—साहब को बुला रही है ।”

गीता निष्प्रभ, चुप रही । कुछ क्षण आया भी खड़ी रही, फिर वह जीने की ओर मुड़ी ।

गीता ने धीरे से पुकारा, “सुनो आया ! उनसे कहना कि साहब सो गये हैं ।”

आया आश्चर्य होकर आगे बढ़ी ।

गीता ने फिर पुकारा, “नहीं, तुम पूछ लेना कि क्या बात है, फिर मुझसे कह जाना !”

आया लौट गयी । गीता ने आँगन को पारकर नीचे सड़क की ओर देखा । चित्रा ने कार से निकलकर बड़े भटके से दरवाजे को बन्द किया । उस भटके में साड़ी का पल्ला नीचे गिर गया ।

आया ऊपर आयी, उसने सदेश दिया, “आपको ही नीचे बुला रही है ?” गीता को कुछ छू गया, एक क्षण चुप रहने के बाद सयत स्वर से बोली, “कहो जाकर, मैं नीचे नहीं उतरती !”

आया लौट पड़ी । गीता ने उसे सहसा रोका, और वह साथ चल पड़ी । नमस्ते करके गीता चुप खड़ी रही ।

चित्रा ने अपना पल्ला-समहालते हुए कहा, “चलो तुम्हे कही घुमा लाऊँ—कितना अच्छा चाँद है !”

चित्रा ने ऊपर देखा ।

गीता ने नम्र स्वर में कहा, “वे तो सो रहे हैं !” और गीता की आँखों में जैसे खिच उठा हो, गगन का चाँद, अधूरा गगन में है और मेरा पूरा-अखंड चाँद मेरे पास है ।

“उन्हें सोने दो न, तुम तो हो !”

“उनके बिना मेरा होना कोई अर्थ नहीं रखता !”

चित्रा व्यग्य से मुस्करायी, कुछ उसने कहना चाहा, कई बार उसके ओठों में गति हुई लेकिन न जाने क्यों वह फूटी नहीं।

अनेक क्षणों तक तीनों चुपचाप खड़ी रही। जैसे उन सब को किसी की प्रतीक्षा हो; और उसके सीमित क्षणों में वे अनजाने, मिले हुए अपरिचित, आँखों-आँखों में एक दूसरे को समझने का प्रयत्न कर रहे हो।

आया बोल उठी, “रानी बह ! मैं जाऊँ !”

गीता ने उसकी ओर देखकर उसे अनुमति दे दी, फिर चित्रा की ओर देखा।

नमस्ते करके वह कार में जा बैठी और कार उसे लिये चली गयी।

कार कहाँ-कहाँ घूमी, किन-किन सड़कों पर मुड़ी, कितने चौराहों पर उसे सोचने के लिये झटके मिले; उसे अनुमान न हुआ। बेमतलब, निर्लक्ष्य वह रेगती रही, जैसे बहुत वर्षों से धरती या किसी मकान के गर्त में कोई सर्पिणी सोयी पड़ी रही हो, आज एकाएक वह बाहर निकल आयी हो, और स्वच्छ वायुमण्डल की न जाने कितनी हवा पीती हुई वह मतवाली इधर-उधर घूम रही हो।

ग्यारह बजे वह घर पहुँची, कई लोग उसके ड्राइंग-रूम में डटे थे। ताश के पत्ते पटके जा रहे थे। वह सीधे भीतर चली गयी।

इसके उपरान्त प्रायः एक हफ्ते तक चित्रा और गीता की भेंट न हुई। देवन और ओम की भेंट अवश्य होती रही। और वे भेटे गीता के सामने होती थी। देवन चुप रह जाता था। उसके भीतर कुछ सुलग-सुलग कर बुझ जाता था। गीता अपने सर और मन पर एक बोझ लिये हुए दब जाती थी। और इस दबाव को देवन अनुभव करता था।

चाय पीते-पीते एक दिन उसके हाथ से प्याला छूट गया। फर्श पर चकनाचूर हो गया। उसने सिगरेट जलायी, धीरे से उसने गीता से कहा, “इस तरह मैं एक दिन बीमार हो जाऊँगा गीता ?”



“क्यों ऐसी बात मुह से निकालते हो ?” गीता उदाग हो गयी ।

“मैं नहीं निकाल रहा था, ऐसी बात स्वयं निकल गयी, मैं तो इसे दबाये बैठा था ।”

“मुझ से ?”

देवन चुप रहा । गीता उससे सटकर बैठी थी, “तुम पुरुष हो देवन !” वह चुप रहा, जैसे उसके अन्तःकरण ने गीता की बात स्वीकार न की । देवन ने सिगरेट जला ली, सोच-सोचकर वह कहने लगा, “मैं तुम्हारे सत्य को ओम के सामने रखना चाहता हूँ, जिससे शीघ्र-से-शीघ्र हम उसके सम्बन्धों से अलग हो जायँ...लेकिन न जाने क्यों...”

शेष वाक्य को वह सिगरेट के धुएँ के साथ पी गया । लेकिन अण भर में भीतर का निगला हुआ धुआँ अपने-आप बाहर निकलने लगा और शून्य में क्षीण रेखाएँ बन कर मिटने लगा, तब गीता के भोले मस्तिष्क में उस धुएँ की एक बू आयी और उसका जी मचला उठा ।

“अपने यहाँ आज, ओम को चाय पर बुला लो !” गीता के स्वर में आग्रह था ।

“नहीं ।”

“तो हमी लोग उसके यहाँ चले ।”

“नहीं !”

“तुम आज अकेले ओम में मिलो !”

देवन चुप रहा ।

गीता बोली, “मैं अकेली ओम के यहाँ जाऊँगी !”

“सकोगी ?”

देवन यह पूछने हुए उठ खड़ा हुआ । गीता से कुछ बोला न गया, वह उत्साह के आवेश में वहाँ से डोल गयी ।

थोड़ी-सी रात और घिर आयी ।

आया भोजन बना चुकी थी । गीता ने उसे साथ लिया, रेक्शे ने उन्हें शीघ्र ओम के घर पहुँचा दिया ।

ओम की बैठक में रोगनी थी, वही चित्रा के साथ बैठा वह कोई अमेरिकन मँगजीन देख रहा था ।

गीता, आया का दायाँ हाथ दबाये कुछ क्षण बरामदे में निःस्पन्द खड़ी रही । एकाएक चित्रा और ओम की सम्मिलित हँसी से वह जग गयी ।

आया ने पर्दे के बाहर से पूछा, “साहब, हम आ सकते हैं ?”

“कौन” ? यह पूछते हुए ओम ने पर्दे को एक ओर खींचा, गीता आगे बढ़कर कमरे में चली गयी ।

गीता अपने-आप सामने के सोफे पर बैठ गयी, आया खड़ी थी । चित्रा अपेक्षाकृत आश्वस्त रही, लेकिन ओम पूरी स्थिति को एक अजीब कातर दृष्टि से देख रहा था । फिर भी वह मन के आह्लाद में कवि के पख पर उड रहा था । “मेरी किस्मत, कि आप मेरे घर आयी !” दृष्टि नचाकर उसने आया की ओर भी देखा ।

फिर बोला, “क्या खातिर करूँ आपकी ?” वह उठ पड़ा । पास चला जाया ।

गीता नीचे देखती हुई चुप थी ।

चित्रा शान्त थी, जैसे वह कुछ पढ़ रही थी ।

ओम प्रस्ताव की झट्टी लगा रहा था—काफी की, पक्कर की, कार से कही घूमने और गोमती के सीने पर टहल आने की ।

गीता ने सर उठाया, उसकी आँखों में कुछ दोल उठा । ओम चुपचाप सामने बैठ गया ।

अतीव सयत स्वर में गीता ने कहा, “मैं आज आप लोगों के पास एक निर्णय लेकर आयी हूँ.....आना पड़ा है । कुछ व्यक्तिगत कारणों

से हम और आप लोग अलग-अलग रहेंगे... मिलना-जुलना, आना-जाना न होगा।”

एक पल के लिये ओम का चेहरा पीला पड़ गया, दूसरे क्षण आरम्भ हो गया, तब उसने जैसे काँपते स्वर में कहा, “यह बात !”

फिर जैसे वह ठंडा हो गया, मरे हुए गोस्त की तरह।

गीता ने विनय के स्वर में कहा, “इसके पीछे कोई बैर की भावना नहीं है, विवशता है। यह इसलिये भी है कि आप और देवन की पिछली मित्रता, जो अभी कल तक थी, उसका स्तर चाहे जो रहा हो, फिर भी वह मित्रता थी, उसकी मर्यादा न नष्ट हो !”

“यह किसने जादू डाला है आप पर ?” ओम ने कुछ देर शान्त रहकर कहा।

गीता ने कुछ उत्तर न दिया।

“बात क्या है, वह तो कहिये, बिना अभियोग लगाये इतनी बड़ी सजा नहीं होनी चाहिये !”

गीता कुछ क्षण चुप रही, फिर उसने उठते हुए कहा, “बस, मैं यही आप से कहने आयी थी !”

गीता दरवाजे की ओर बढ़ी। ओम दौड़कर सामने खड़ा हो गया।

“अभी आप नहीं जा सकती। मैं भी सब बातें समझता हूँ।”

“तब तो बहुत अच्छा है !”

“अच्छा तो है, बाहर से बहुत-सी चीजें अच्छी होती हैं, लेकिन भीतर से वे उतनी बदसूरत भी होती हैं।”

गीता चुपचाप अपने बाहर जाने के पथ को देख रही थी।

ओम ने गम्भीरता से कहा, “इस फैसले को मुझ तक पहुँचाने के लिये देवेन्द्र साहब क्यों नहीं आये ?”

“कोई भी चला आता, इसमें तो कोई बात नहीं थी !”

“इसी में तो सब से बड़ी बात थी,” ओम की वाणी जैसे रह-रहकर

टूट रही थी, “सब से बड़ी बात थी, देवेन्द्र की कभी हिम्मत नहीं पड़ सकती कि वे मुझ से आँख मिलाकर ऐसे फैसले दे सकें... पूछिये क्यों ?” समझ लीजिये इसे !”

“मैं कुछ समझने या पूछने नहीं आयी हूँ ।”

“लेकिन यह तो याद रखना होगा कि यह फैसला आप सुनाने आयी थी !”

गीता का जैसे कुछ छू गया । उसकी आँखें भर आयी, चमकी, फिर तप्त हो उठी, पिस कर उसके मुह से निकला, “तो क्या हुआ ?”

“अभी नहीं हुआ, लेकिन होना चाहिये ।”

गीता क्या बोलती !

ओम अपना स्वर व्यग्य की गति में गिराता हुआ कहने लगा ‘जिस देवेन्द्र को आज आप पति के रूप में अपना ईश्वर देख रही हैं, वह झूठ है ।”

“लेकिन कुछ तो है ।” गीता ने धीरे से कहा !

“झूठ मैं हूँ आप ।”

“मुझे इसी में सुख है ! और कुछ !...हो चुका सब अपने मित्र के बारे में ।”

गीता ने जैसे विजय के स्वर में कहा हो, “मेरे देवन ने तो अपने मुख से आपके बारे में कुछ भी न कहा था ।”

“कह सकता ही नहीं, यही तो मैं कह रहा हूँ ।”

चित्रा उठकर आया के पास चली आयी । आग्नेय दृष्टि से आया उसे देखकर कुछ बुदबुदा उठी ।

“शीतलराय ने देवेन्द्र को घर से क्यों निकाला ?” ओम के स्वर में आवेश था, “बाप ने देखा कि बेटा जुए में उसे बेचता जा रहा है !”

“तो क्या हुआ !” गीता ने गर्व से उसकी आँखों में देखते हुए कहा ।

चित्रा ओम के दाँये हाथ को पकड़कर उसे शान्त रहने के लिये आग्रह कर रही थी । वह इतनी घबड़ा चुकी थी कि उससे कुछ बोला न

ऐसा जगा, जो उसमे रहा, लेकिन उस से अदृश्य था, अनुभूति की सीमा में था, पर व्याप्ति में नहीं; जीवन ने उसे जैसे परिचित ही न होने दिया।

ओम, देवन का दोस्त था। दोनों एक-दूसरे से बहुत कुछ पाये होंगे, खोये भी होंगे।

गीता का कुछ न खोया जा सका; क्योंकि उससे कभी कुछ पाने के लिये नहीं, वरन् वह उसे पूरी तरह खोने गयी थी।

इसीलिये उल्टे, ओम से अचानक आज देवन की पत्नी गीता को एक नयी सबेदना मिल गयी—एक अजीब-सी व्याकुल सीमा, जिसके भीतर बँधकर वह अपने स्वत्व और अन्तर को पहचान सकेगी।

अनेक तरह से कृतज्ञ हो कर गीता 'डी हेविन' लौटी। उसके मुख पर प्रकाश था, भीतर कुछ जल रहा था।

जीने को पार कर, जब वह ऊपर आयी, उसने देखा, देवन ड्राइंग रूम में पखे के नीचे आँख मूंद बैठा था। उसे देखते ही गीता उमड़ पड़ी, जैसे पावस की मोरनी। मुस्कान के बोझ लिये, पजे पर चलती हुई वह देवन के पास चली आयी।

देवन ने हँसने का प्रयत्न किया, मुस्कराया वह, लेकिन मुस्कराते समय जो स्मित-ज्योति मुह पर बरस जानी चाहिये, वह न बरसी—बरसते-बरसते सूख गयी।

देवन की उठी हुई सूनी दृष्टि ने मानो पूछा, "क्या हुआ गीता?"

गीता हठी बच्चे की तरह हँसती रही, उसे बहुत बड़ी विजय मिली थी, हँसी ही जैसे उस विजय के प्रति उसके मगल गीत थे। बहुत बड़ा बोझ उतार कर आयी थी वह।

लेकिन जब उसने देखा कि देवन के मुख की उदासी बढ़ती जा रही है, तब एक झसकी हँसी मुस्कराहट पर टूट गयी।

वह भी उसी तरह उदास हो गयी, लेकिन उस तरह हारी नहीं। गले में लगकर उसने बताया, "कह आयी।"

“कुछ हुआ नहीं।” सधे स्वर में देवन ने पूछा।

“जी, होता क्या, फैसला सुनाने में कही कुछ होता है, फैसला ग्रहण करने में शायद होता हो।”

“वही पूछ रहा हूँ—फैसला लेनेवाला ओम था”।

“जैसे अभियोगी ले लेता है।”

कुछ क्षणों तक दोनों निस्तब्ध थे।

धीरे से देवन ने कहा, “गीता, तुम मुझ से छिपा रही हो!”

चुप मुस्कराती दृष्टि से गीता उसे निहारती रही।

देवन ने सर झुका लिया, “तुम्हारे पीछे-पीछे ओम के घर में भेजा गया था”।

“सच।” गीता विस्मय फिर आतक से भर गयी, “सच देवन।”

“हाँ, ... मैं इसे छिपा लेना चाहता था।”

गीता ने घबड़ाकर देवन के सर को अपने अक में कस लिया।

“ओम झूठ है देवन।”

“अगर वह सत्य हो?”

“सत्य हो।” गीता ने जैसे अपने से पूछा हो।

“हाँ।”

“तो सत्य ही सही, हम भी तो सत्य हैं। दो विरोधी सत्य एक दूसरे को तपायेंगे और हमारे जीवन को एक समन्वित सत्य दे जायेंगे।”

देवन अपलक उसे देखता रहा। कुछ क्षण निःस्पन्द रह कर गीता फिर बोली, “इसमें हमारी हार नहीं हुई है, हार उस विरोधी सत्य की हुई है जो अपने को पहचान न सका।”

गीता ने देखा, देवन की उदासी अब भी उसी तरह बढ़ती जा रही थी, जैसे विलम्ब रात की वह घड़ी। वह स्वयं पश्चाताप से भर गयी और उसी दृष्टि से उसने देवन की आँखों में झाँका, उसमें वेदना थी।

पर विलम्ब रात की वह घड़ी, गीता के मन का पश्चाताप और देवन की वेदना; तीनों एकीकृत होकर आशा बन गयी। वह स्वस्थ मन के

कहने लगी, “अपनी उमर में सब एक बार जुआ खेलते हैं। मेरे नाना बहुत बड़े जुआरी थे, लेकिन सरकारी बेच के सब से ईमानदार न्यायाधीश थे। लौग अब भी उनका नाम लेते हैं !”

कुछ क्षण वह शून्य में देखती रही, फिर बोली, “मेरी माताजी के गुरुजी कहा करते थे कि, जो जीवन की बुराइयों में भूला नहीं वह उससे ऊपर क्या उठ सकेगा ? जो डगमगा जाता है, वही तो नया रास्ता ढूँढ़ता है !”

कुछ देर तक दोनों चुप रहे।

गीता ने आग्रह किया, “चलो हम सो जायें। आज हमारी जीत की घड़ी है, उदास हो कर इसे रूठने न दें।”

देवन उठ खड़ा हुआ, गीता से आँख मिलते ही उसने कहा—  
“जितना ओम ने कहा, गीता उतना ही न तुम ने जाना और जितना उसने नहीं कहा वह ?”

कुछ क्षण वह खड़ी देखती रही, फिर उसका दायाँ हाथ पकड़े हुए वह सोने के कमरे में बढ़ी, “मैं ओम को क्या समझती हूँ; मैं तुम्हें जानूँगी या जानना ही न चाहूँगी; उस से क्या प्रयोजन ?”

“जानने का आग्रह कर लो तो अच्छा रहेगा !”

“क्यों ?”

“तुम आग्रह करोगी तो मैं बता दूँगा, या बता पाऊँगा।”

गीता ने उसे अपलक देखा, कुछ बोली नहीं, पलंग पर बैठ गयी ! देवन को लगा जैसे गीता निःशब्द चिल्ला कर कह रही हो, “मैं तुम्हें जानने का आग्रह कैसे करूँ, तुम्हीं तो ‘मैं’ हो मेरे स्वत्व !”

देवन पलंग पर लेटा। कमरे का प्रकाश बुझ गया। वातावरण निस्तब्ध था, एकाएक उसे भेदती हुई देवन की आवाज आयी, “तुम डरती

हो गीता, डरना सहज भी है क्योंकि कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि बाहर से दो मिले हुये व्यक्ति जब एक दूसरे को पूरी तरह से जान लेते हैं तो वे अलग हो जाते हैं, रहस्य का पर्दा उठ जाने से आकर्षण नष्ट हो जाता है !”

गीता कँप गयी। जैसे सरोज अपने चेहरे पर एक भयानक नकाब डाले उसके कमरे में चली आयी हो और एक ही क्षण में वह कमरे भर में फैल गयी हो। उस निसृति में जैसे उसकी वाणी खिच गयी—‘क्योंकि दो टूटे हुए आपस में मिलते हैं, अपने में जोड़ लगाकर। और वे जोड़ बनावटी होते हैं, जिनमें न जाने कितनी तरह के सूराख रह जाते हैं, जहाँ से वे बूद-बूद टपकते रहते हैं !’

भाव-मस्त होकर गीता, भीतर-ही-भीतर आवेश से भर गयी, जैसे उसके अन्तःकरण की सत्यता पर विष-दंश हो गया हो। भावोन्मेष में उसकी दोनों मुट्ठियाँ भिन्न गयी और उसने बढ़कर जैसे शून्य में फैली हुई सरोज को पकड़ लिया और उसे बेनकाब कर दिया। वह कोई मुख नहीं था, जिस पर नकाब पड़ा था, वह ढका हुआ भूठ था, जो गीता को विचलित करने आया था। वाणी को संयत करते-करते कई क्षण बीत गये, गीता ने तपे स्वर से कहा, “देवन, मैं कहीं से कुछ भी नहीं डरती,” उसने बढ़कर कमरे में फिर प्रकाश कर दिया, “क्योंकि हम बाहर से नहीं मिले हैं, भीतर से मिले हैं, हमारा बाहर तो उस मिलन का निसर्ग है।’ क्षणिक अन्तराल के बाद वह फिर बोली, “यह मिलन आत्मा का है, वस्तु का नहीं; तभी इसका साक्षी अग्नि था।”

यह कहते-कहते गीता देवन के मुख पर झुक गयी। देवन ने घबड़ाकर पूछा, “इतने आवेश में क्यों हो ?”

“मेरी एक ममेरी बहन सरोज है, मुझे इस समय उस पर क्रोध आ रहा है, जी कहता है कि फिर उसका मुंह न देखू !”

“अच्छा, अब सो जाओ।” देवन के स्वर में थकान थी।

गीता लेट गयी, हँस कर बोली, “मेरे पापा कट्टर आर्यसमाजी हैं।



माताजी वैष्णव हैं, दोनों एक-दूसरे को खूब जानते हैं, लेकिन दोनों व्यक्तित्व में जैसे एक आत्मा है।”

देवन चुप रहा, जैसे सो गया हो।

गीता कुछ देर रुक कर फिर बोली, “जो चीज कही जाती है, वह अधूरी रहती है, उसकी सम्पूर्णता अनुभव से होती है।”

सहसा देवन ने कहा, “अनुभव तो होगा ही, पर मैं अपनी ओर से क्यों छिपाऊँ—अधूरा ही सही, लेकिन कह दूंगा।”

“ओम झूठ कहता था देवन, कि तुम बुजदिल हो,” गीता ने कहा, “बुजदिल के पास साहस की वाणी नहीं होती, फिर आत्मगत सत्य बताने की वाणी!” आत्मसंतोष से वह अभिभूत हो गयी। उसके अग्र-वंग में कुछ तैर-सा गया, जैसे नयी अनुभूति की राजहंसिनी।

“मेरी अलकों को छुओ देवन !”

देवन ने अपनी आँखों से छुआ।

“हाँ अब कहो !”

“नहीं, किसी और दिन।” स्वयं मना भी किया।

देवन

मा कहती थी, जिसे अपना बचपन भूल जाता है, वह जीवन में सदा भटकता ही रहता है। मुझे इस पर विश्वास नहीं; लेकिन यह सत्य है, कि मुझे अपना बचपन नहीं याद है। पता नहीं बुद्धि की कमी थी, सवेद्य शक्ति का अभाव था या हृदय ने स्वयं स्मृति के प्रति कोई विरोध ठान रखा था—कह नहीं सकता।

पूरी तरह से केवल मुझे मा याद है, गगाजली ऐसा पवित्र नाम आज तक मुझे कहीं न मिला। पिताजी मुझे देवन्द्र कहते थे, माँ देवन पुकारती थी। माँ की यह पुकार मुझे बहुत थोड़े ही दिनों तक सुनने को मिली थी। इतने स्नेह से आज तक मुझे किसी ने न पुकारा।

अचानक एक दिन माँ मुझसे चली गयी। मैं नौ वर्ष का था—तब से मुझे सब याद है, या याद रहने लगा है। सब याद है, जैसे मौत याद रहती है।

लेकिन उस याद में किसी और के लिये कुछ नहीं है—गीता के लिये भी नहीं। उसमें कोई ऐसी घटना या समस्या नहीं है, जिससे समवेदना

उभारी जा सके, या जिसका अपना कोई बहुत बड़ा सत्य हो—ठीक उस समतल रास्ते की भाँति है जो एक-सी जमीन को पार करता हुआ आगे बढ़ आया हो, जिसमें मोड़ अवश्य हो लेकिन ऊँची-नीची खाइयाँ न हो, दरार और कगार न हो।

पुरानी घटना !

पुरातन-समस्या ।।

धनी पति की पत्नी मर जाती है। अपनी आत्मा के दो नन्हे-नन्हे स्वरूपों को घर में छोड़ जाती है। पति दूसरी शादी कर लेता है। घर में एक नयी दूल्हन आती है, बच्चे कौतूहल-वश उसे देखने दौड़ते हैं। कोई सहसा मजबूत हाथ से उन्हें पकड़ लेता है और उन्हें विवशत परिचित होना पड़ता है कि वह पुम्हारी मा है—दूल्हन नहीं, भट चरण स्पर्श करो।

तन पर कपड़े लाद कर, इच्छा को पाटकर मा की पवित्र स्मृति के प्रति छलना का नाटक खेला जाता है। माँ-बाप सूत्रधार हुये, मैं दुतली की भाँति नाचता फिरा।

स्थितियाँ मुझे लिये हुए बहुत आगे बढ़ गयी, लेकिन मन बहुत पीछे छूट गया, जैसे व्यस्तता-वश उसे किसी ने पूछा नहीं, और वह रुटता चला गया।

माँ एक होती है, बस !

दूसरी माँ पिता जी की पत्नी थी।

न जाने वह कौन-सा पथ रहा होगा, जिस पर मुझे चलाने के लिये माँ ने स्वप्न देखा होगा।

दूसरी माँ के हाथों ने मेरा जीवन बिल्कुल एक नये पथ पर मोड़ दिया।

घर मुझे फाँसी-सा लगता था, यद्यपि घर में सुख के समस्त साधन थे। इधर-उधर भटकता रहता था—मुहल्ले में, सड़क और गलियों में, स्कूल तथा कालेज के मैदानों में।

इन भटकनों में मेरा सहज बालक अपने में भूल जाता था, लेकिन

विवशता जब मुझे घर लौटा कर लाती थी; मैं बालक से जैसे क्षण भर में वृद्ध हो जाता था। घर में आते ही पिटने लगता था। पिटना तो किन्हीं अर्थों में स्वस्थ भी था, अस्वस्थ थी उसके पीछे की घृणा और उससे भी भयानक थी मौन उपेक्षा। इसे न पिताजी ही जानते थे न मेरे छोड़ अन्य कोई।

वह यातना मेरी थी। पर विश्वास था कि पिताजी इसे नहीं जानते। आशा थी, जिस दिन वे जानेंगे उस दिन मैं इस से मुक्त हो जाऊँगा और माँ को दंड मिलेगा।

सन्ध्या थी, पिटा-फटकारा हुआ मैं आँगन में खड़ा-खड़ा रो रहा था। आँगन में एक बच्चा, आया की गोद में खेल रहा था। मुझ से कहा गया कि मैं चुप हो जाऊँ, लेकिन मैंने चुप न रहने के लिये तै किया था। सोचा था कि पिता जी सब जान ले। सहसा एक और चाटे के साथ मुझे माँ से माँ की गाली मिली।

पीछे पिता जी आ खड़े थे। मैं उन से चिमट गया। आँखों में आँसू भरे, मैं बार-बार उन्हें निहारता रहा। वे कुछ न बोले।

उस क्षण पिताजी के भी प्रति मेरा कुछ टूट गया। मैं सब से छिप कर बहुत रोया, फिर चुप हो गया और घटो बैठ-बैठा न जाने किसे-किसे गालियाँ सुनाता रहा। उठा। अपने सब फोटुओं को चीर डाला, सारी किताबों को उठाकर मैंने गन्दी नाली में फेक दी। कैंची का एक पैकेट सिगरेट खरीदा और रात भर में सब पी गया।

मेरी यातना अधी थी, क्योंकि उसमें मौन उपेक्षा थी, कामना-विहीन थी वह। इसलिये उस यातना ने मुझे दृष्टि नहीं दी, बल्कि छीन ली।

मेरा बाहर जगा, भीतर सो गया—सोता रहा, जैसे जगाया ही न गया।

कुछ रुपये पिता जी देते थे, कुछ मैं चुरा लेता था, विशेष आवश्यकता दिखाकर कुछ माँग लेता था और कुछ झूठ पढ़ाकर ऐंठ लेता था।

रुपये में उत्साह से अधिक शक्ति थी, वह मुझे मिली, और मैं उसे

पहचान भी गया । मैंने उसे आत्मसमर्पण दिया, उसने मुझे जीवन के प्रति आकर्षण दिये । उसके अधिक-से-अधिक पक्ष मुझे सम्मोहित करने लगे ।

सब मे रगीन आश्रय थे, नये-नये अनुभव थे—समरसता की गंध थी । बिल्कुल नये ढंग की शान्ति थी, जिसे मैं मानो ढूँढ़ता रहता था ।

अच्छे नम्बरो से मैं इटर पास हो गया । तब तक पिताजी भी मुझ से ऊब चले । लेकिन मेरे मूल अधिकारो को वे कभी नहीं भूलते थे ।

विश्वविद्यालय में मेरा प्रवेश हुआ । घर छोड़ा दिया गया । मैं होस्टल में रहने लगा ।

अपने विषय में बकना मुझे बहुत बुरा लगता है, मेरा दम फूल जाता है । इसीलिये मैं अपने जीवन का सम्पूर्ण वृत्त न बनाकर तेजी से एक ऐसी रेखा खींच रहा हूँ, जैसे जमीन पर कोई अनाड़ी बच्चा खींचता चला जाय ।

गीता, इस रेखा से तुम स्वयं मेरा वृत्त बना लेना और अनेक, असंख्य, न कही बातों-घटनाओं से उस वृत्त के घेरे को भर लेना ।

मैं अपने को तुम पर लादना नहीं चाहता, केवल बताना चाहता हूँ । अतः कहता कम हूँ, सकेत अधिक करता हूँ । क्योंकि अगर सब कहने लगूंगा, तो तुम सोचोगी क्या ? सब इसलिये भी नहीं कह रहा हूँ कि वहा मेरा विशुद्ध अह है—जो अपनी निबलताओं, और भटकनों को अपने में दबाकर बहुत सादगी से बैठा है । मैं उसे नहीं छेड़ना चाहता—उसमें अनेक चित्र हैं, अनेक कथाये हैं—सब अपने प्रकृत रूप में बिखर पड़ेगी । मैं इतना नैतिक नहीं कि मैं उन्हें ( जो मैं हूँ ) अपने हाथों मूर्त करूँ ।

तुम्ही कर लो गीता, मेरी हिम्मत नहीं। उठो, पास आओ, इस चर्द को खींच दो, और सब देख लो। इन्हे तुम्ही देख भी सकती हो, मैं नहीं। मैं देख सकता तो ये मुझ में आती ही क्यों ?

ओम ने जो-जो कहा, ठीक कहा था।

उसने जो नहीं कहा, वही वह है तभी उसने नहीं कहा—क्योंकि मनुष्य सहज रूप से जब दूसरो की कहने लगता है, तब अपनी छिपा लेता है, और जब अपनी कहता है तो दूसरो की छिपा लेता है। उसने जो नहीं कहा, वह भी कोई असाधारण बात नहीं। मेरी गति है वह।

एम० ए० पास कर लेने के बाद मेरे लिये घर में फिर यह समस्या उठी कि अब मुझे कहाँ फँसाया जाय। मैं बिल्कुल बेकार घूम रहा था।

उसी वर्ष सयोगवश ओम से मेरी भेंट हुई, परिचय हुआ। हम दोनों एक दूसरे को बहुत अच्छे लगे—पूरक जैसे।

ओम के पास अपनी एक 'मोटर-कम्पनी' थी—'युनाइटेड कम्पनी'। नाम जितना बड़ा था, 'कर्सन' वैसा न था। फिर भी चलती हुई कम्पनी थी। ओम से पहले दिन की बात मुझे याद है, उसने कहा था, 'डम जमाने में पहले नाम बड़ा करो फिर सब बड़ा हो जायगा। नाम बिकता है, और अपने को बेच कर वह रुपया लाता है।'

पिताजी ने मुझे अपनी ट्रेडिंग कम्पनी का सहायक मैनेजर नियुक्त कर दिया। ढाई सौ रुपये मेरे वेतन थे। पिताजी ने नौकरी क्या दी, गोया मेरी रुकी गाड़ी में दो पहिये लगाकर उन्होंने उसे एक रास्ते पर ढकेल दिया।

मैं प्रसन्न था, क्योंकि चल पड़ा था। ओम की सगति ने उसमें जान डाल दी थी, मेरे प्रति उसमें एक बड़ी सुन्दर अनुरूपता थी। जैसे हम बहुत दिनों के साथी थे, बीव में कही छुट गये थे, सहसा मिल गये।

उसी वर्ष हम लोग देहरादून गये, गर्मी काटने। वहाँ एक स्वच्छद युवती से हमारी भेंट हुई, परिचय बढ़ा। न जाने किन सस्कारों और आकर्षणों ने हमें बहुत ही शीघ्र एक दूसरे के पास ला दिया। उसकी

जन्मभूमि लाहौर थी लेकिन सस्कार पूरब के-से थे । अग-गठन और रूप-विन्यास में पजाब का गहरा रंग था । पर जिससे व्यक्तित्व को सम्पूर्णता मिलती है, रूप को संस्कृत किया जाता है, वह सब और भी पश्चिमी था । रूप, आकर्षण और सस्कारों का अजीब समन्वय ।

कन्वेन्ट से सीनियर कैम्ब्रिज पास थी, स्पष्ट खुली हुई थी, हँस-हँसकर इतने शीघ्र हम लोगों में घुल-मिल गयी कि मचें रहते हुए भी हमें पता न चला, जैसे हम लोग एक दूसरे को ही ढूँढ़ रहे थे ।

उसकी बड़ी-बड़ी हसती आँखों में कुछ बुझा हुआ था—वही विन्दु उसके सारे अलहड व्यक्तित्व पर करुणा की-सी गभीरता बिखेर देता था । और वही उसकी सम्मोहन शक्ति थी, नारी थी, भटकन थी । पूरब था ।

वह देहरादून से मसूरी जाने को थी—अपने मामा के पास । विदा देते समय हम सब हार गये—अजीब थी वह मन की विवशता । मोह में बंधे हुए हम लोग उसके साथ मसूरी चले गये ।

हम सब उसी होटल में रुके जहाँ उसके मामा एकाउन्टेन्ट थे । वहाँ भी हम खूब परिचित-से रहे ।

गीता, अब तुझे मैं बता दूँ, यही थी चित्रा । सस्कार उसके अति आधुनिक थे, वह अपने में बहुत बड़े मूल्य की थी, लेकिन उसमें एक भयानक दोष था—वह भीतर से कहीं-न-कहीं प्राचीन थी । यह सत्य हमें उस रात मालूम हुआ, जब हम मसूरी छोड़ने जा रहे थे ।

पिछले दिनों तक हम लोग साथ आनन्द से घूमते थे, चाय-भोजन का विलास करते थे, सिनेमा देखते, क्लबों में मुखरित होकर नाचते थे । पर उसने अपने प्राचीन सत्य का कभी आभास न होने दिया ।

हम लोग गहरी नींद में सो चुके थे । वह एकाएक हमारे कमरे में आयी, रोशनी की, पास के कोच पर गिर गयी और फूट कर रोने लगी । पहले मेरी आँख खुली, तब ओम की । हम दोनों ने विस्मय से उसे देखा । वह निःशब्द बड़ी देर तक सिसकती रही । काँपते स्वरों से उसने बताया, उसके मामा को छोड़ उसके आगे-पीछे कोई नहीं है । तीन साल हुए उसके



नाम केवल चार हजार रुपये छोड़ कर उसके पापाजी मर गये थे । दूसरी माँ थी, वह अन्यत्र चली गयी । साथ उसके केवल मामा थे । अब वे भी इस प्रस्ताव पर निश्चित हो आये थे कि वही के एक क्रिश्चियन व्यवसायी से उसका विवाह हो जाय, और दूसरा प्रस्ताव था कि वह उसी होटल में नौकरी कर ले । अन्त में चित्रा ने करुणा से कहा था कि 'वह हिन्दू मा-बाप से पैदा है, हिन्दू ही रह कर वह मरेगी, स्त्री है—स्त्री ही रहेगी, कहीं नौकरी करके यत्र नहीं बन सकती ।'

मेरी आत्मा में कुछ जग-सा गया, मैं प्रस्ताव बाँधकर उसके सामने रखने ही जा रहा था कि ओम ने बाजी मार ली, जैसे उसकी आत्मा कब की जगी बैठी थी । वह चित्रा को पा गया । न्यायालय में दोनों का विवाह हुआ ।

लखनऊ में उसका सूना घर बस गया और ऐसी श्रीवृद्धि के साथ बसा कि अपने स्तर और वातावरण में उसका सर ऊँचा उठ गया ।

हम तीनों तब भी उतने ही समीप थे । कहीं से भी हममें अन्तर या दुराव न आया । ओम मेरी आँखों में बहुत ऊँचा उठ गया था—इतना ऊँचा कि वह सदा मेरी दृष्टि में रहे ।

ओम की गृहस्थी बनाने में उसे जहाँ मेरी आवश्यकता पड़ी, वहाँ खड़ा रहने में मुझे सतोष मिला । चित्रा को भी मैंने क्या-क्या....।

लेकिन बयो ?

कुछ नहीं ।

विवश हूँ । अब मैं कुछ नहीं कहूँगा गीता ! कुछ तो मूक रहने दो । क्योंकि अब जो कुछ कहूँगा, जो कुछ भी मेरे मुह से निकलेगा सब मेरा अन्तर होगा, उसकी एकांत अनुभूति होगी । अपने विश्वास और सत्य की प्रेरणा से किये हुए कार्य, दिये हुए भाव, पाये हुए द्वन्द्व और घनीभूत अनु-

भूतियों को जब कोई कहने लगता है नव वह कथन नहीं होता, बल्कि उन सत्र के प्रति एक सहान विव्दामघात होता है। महान् इमलिये कि वह " सत्य, भाव और अनुभूति के है वस्तु के नहीं।

कथन वस्तु का होता है, भाव-अनुभूति का नहीं। ये अपने-आप बंध जाते हैं, इनकी अपनी वाणी होती है, उसे हम नहीं जानते।

पिता जी मेरे लिये व्याकुल थे। माता जी मेरे प्रति कटु हो चुकी थी, जैसे उनकी घृणा धीरे-धीरे उनमें सतह पा कर जम गयी हो।

पिता जी समझते थे कि मैं उन से अलग हो रहा हूँ। उनके मन की इच्छा थी कि मैं शादी कर लूँ, फिर अलग हो जाऊँ। मैं अलग रहने पर तो तुला बैठा था, लेकिन विवाह से न जाने क्यों मन बहुत दूर भाग रहा था।

पिताजी मेरे मूल अधिकारों को कभी नहीं भूलते थे; यही मैं उनके स्नेह से पराजित हूँ।

उनका मन रखने के लिये, मैं उनके रखे हुए विवाह के अनेक प्रस्तावों पर विचार करता था। लड़कियों को देखता था—कभी दयावश, कभी कर्नव्यवश और कभी कुतूहलवश।

मैं इसे अह के रूप में नहीं कह रहा हूँ गीता! सत्य-रूप में कह रहा हूँ। मैंने उन वर्षों के बीच अनेक लड़कियों को देखा, लेकिन मुझे उनमें कुछ भी मौलिक, कुछ भी नया न मिलता था, सब वही था—वही पुराना, वही सम्प्राप्त!!

एक अधूरी परिधि में मैं घूमता रहा—थका नहीं क्योंकि निर्व्यज्ज केवल घूमना ही था। इसी चक्र में न जाने कैसे, गीता तुम आयी, ऐसी आयी कि मेरी अधूरी परिधि स्वतः अपनी बाहे फैला कर अपने में परी हो गयी। मुझे विस्मय से अधिक पराजय-सा लगा।

सच, तुम्हें देखकर गीता, मेरा वह असन्तुष्ट वचन सचल पड़ा; जिसे मातृत्व के स्थान पर मोन उपेक्षा मिली थी। मेरे सुपुत्र भावों के वे अधिकार उमड़ पड़े, जिसकी कमी का मुझे कभी अनुभव ही न था।

‘तुम्हारे एकान्त दोष का भी आभास मुझे मिल गया था। तुम पिछड़ी थी, यह शहर तुमसे बहुत आगे बढ़ गया था। पर यह कमी भी मुझे आकर्षक लगी—तुम्हें सुलभाने की जिज्ञासा, तुम्हें लेकर आगे बढ़ने का उत्साह।

तुम्हें जब मैं पा गया और तुम्हें अपने मे समादृत करके मैंने अनुभव किया, तब मुझे लगा कि मैं सब दिशाओं में असंतुष्ट हूँ, तुम्हीं मे अपना सन्तोष ढूँढ़ा।

मैं चला, जैसे कि मैंने नये सिरे से अभी अपना जीवन आरम्भ किया हो। लेकिन ओम और चित्रा के लिये मैं वही था। उन्हें यह पता ही नहीं कि तुम ने मुझे अपने मे खींच लिया है—मैं आगे से पीछे लौट गया हूँ, जहाँ तुम खड़ी हो।

ओम ने जब तुम्हें देखा होगा तो उसकी दृष्टि में चित्रा रही होगी, स्वाभाविक था। मैं भी, तुम्हें देखने के पहले जब किसी लड़की को देखता था तो मेरी भी दृष्टि चित्रा से अभिभूत रहती थी।

ओम ने तुम्हारे साथ जो व्यवहार किये, पहले मुझे उस पर ध्यान ही न था, [ध्यान में शायद इसलिये भी न आया कि मैं उन्हें अर्थहीन समझता था। ओम के लिये भी वह अत्यन्त स्वाभाविक था, क्योंकि उसे हमने जन्म दिया है। जिसे हम जन्म देते हैं, उसे हम बुरा नहीं समझते, बल्कि उस पर ध्यान ही नहीं देते। वह हमारे दैनिक जीवन का एक सहज अंग हो जाता है।

मैंने अपने को तुम्हारे सामने रख दिया। जो कुछ ओम ने मेरे बारे में तुम से कहा वह तो सत्य था ही, मैं भाग नहीं सकता। जो उससे न कहा गया, मुझे कहना पड़ा, उस सत्य में और भी गहनता है।

तुमने मुझे देख लिया। मैं तुम्हारे पथ पर बिल्कुल सामने खड़ा हूँ—नये मोड़ पर। तू ने मुझे गति दे दी, मैं चल पड़ा।

परसों बँक जाते समय मैं ओम की दुकान की ओर से गुजरा, सामने आते ही न जाने क्यों मैं कंप गया। ओम ने अगर मुझे देखा होगा, तो

गायद यही दशा उसकी भी हुई हो। बंक से लौटते समय मैंने दूसरे रास्ते को पकड़ा। बगल से ओम-जेमी एक नीली कार गुजरी, सारा रक्त मेरे मुह पर आ गया, लेकिन कार का नम्बर कुछ और था।

शाम को जब मैं तुम्हारे साथ हजरतगज टहल रहा था, मैं तुम से तुम्हारी बातें कर रहा था, लेकिन मेरी आँखें देख रही थी कि गज में घूमती हुई सारी औरतें मानो चित्रा हैं। तभी मेरी भिची हुई मुठियाँ बार-बार पसीने से तर हो जाया करती थी।

कल चार बजे एक और भी विकास हुआ। मैं अपनी दुकान से निकला ही था कि चित्रा की कार मेरे सामने आ रुकी। मैं निष्प्रभ रह गया। मैंने अपनी दृष्टि को उससे मिलने न दिया—चुराता रहा।

उसने गिरे स्वर में कहा, “तुम्हें लेने आयी हूँ।”

उसने दो बार कहा, मैं निश्चेष्ट खड़ा रहा।

फिर उसने, कंपते स्वर में पूछा, “नहीं चलोगे?”

मुझे पता नहीं, मैं कार में जा बैठा—पिछली सीट पर।

चित्रा आगे बैठ कर क्षणभर पीछे निहारती रही। सर गाड़े हुए मैं जैसे चित्रा की दृष्टि से अपने को दूर हटा रहा था।

“अलग होना सरल नहीं है देवन। इसके लिये पहले टूटना पड़ता है।”

यह कह कर चित्रा ने कार चला दी।

मैं गम्भीरता से अपने को स्पष्ट करने लगा। अपने—ओम और गीता के आधारों को मैंने साफ-साफ बता दिया। अपने पथ के इस नये मोड़ को भी मैंने उसे बता दिया। यह भी बता दिया कि जिस रात गीता ओम को हमारा फैसला सुनाने गयी थी—औम ने मुझे भूठा, शराबी, मक्कार, दुश्चरित्र आदि न जाने क्या-क्या कहा था—उस समय मैं वही बाहर, बरामदे में खड़ा था।

चित्रा कुछ बोली नहीं। उसकी कार बढ़ती रही, अपने मूल रास्ते

को छोड़ती हुई और सड़को पर मुड़ती रही। मैं सब कह चुका—अवश्य गम्भीरता से कटुता की भी ओर बढ़ता गया, लेकिन अन्त में मुझे चुप हो जाना पड़ा, क्योंकि चित्रा के पास जैसे कोई प्रतिवाद ही न था।

कार जब बहुत घूम चुकी, तब मुझे उसकी आवारा गति असह्य हो गयी। मैंने डाँटते हुए पूछा, 'यह क्या कर रही हो?'

चित्रा पर कोई असर नहीं। बल्कि मुझे लगा कि कार की गति और भी तेज हो गयी। फिर मैं डर गया कि वह कोई भयानक घटना न करा बैठे।

मैंने क्रोध से चीख कर कहा, 'तू मुझे धोखा नहीं दे सकती।'।

कार उसी क्षण रुक गयी, जैसे एकाएक पहियों के धुरे टूट गये हो।

चित्रा कार से निकली। पिछली सीट के दरवाजे पर आ झुकी।

“कैसा धोखा देवन।”

लग रहा था, जैसे वह रो देगी। मैं चुप रहा। उसने स्वर को और गिरा कर कहा, “मैं इतनी नीच नहीं हूँ देवन कि”। .....फिर वह रो पड़ी, ठीक उसी तरह जैसे मसूरी में रोयी थी। और कार में जा बैठी, जैसे अपने-आप से कहने लगी, “पता नहीं किस धोखे की बात तुम्हारे मन में है। देवन, मैं तुम्हें धोखा भी दे सकती हूँ; इसे कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा।”

मैंने पूछा, “फिर निर्लक्ष्य तुम्हारी कार क्यों घूम रही है?”

“क्योंकि मेरा स्वत्व घूम रहा है”, चित्रा ने बताया, “लेकिन इस घुमडन में स्वयं के प्रति चाहे जो अहित हो जाय, तुम्हारे लिये अहित की भावना तक नहीं। यह तो मेरा पक्ष है, पर तुम्हारे पक्ष से मेरे प्रति जैसे विश्वास उठ गया—क्यों? बोलो न, कह डालो।”

मैं चुप था।

वह कहती गयी, “मुझ से अलग होने के लिये अपने मन को इतना विषाक्त क्यों बनाते हो?”

मैं कार से नीचे उतर आया।

उसने फिर कहा, “पर इसे बताना होगा, कि इस द्वन्द्व में मेरा दोष क्या है ?”

मैंने दो टूक उत्तर दे दिया, “दोष मेरा था, इसका फल गीता को मिला, इसी तरह ओम का भी था, परिणाम तुम्हें भी भोगना होगा ।” चित्रा अवाक् थी ।

मैंने ओर स्पष्ट किया, “मूल दोषी मैं हूँ, मुझे सब से अधिक भोगना होगा !

“नहीं, यह मैं अपने लिये सोचती हूँ ।” चित्रा ने कहा ।

“लेकिन रास्ते अलग-अलग हैं ! जो इन्हें मिलायेगा, वह हम से भी अधिक धोखे में रहेगा ।”

यह कहकर मैं सामने रेशों की ओर बढ़ा । चित्रा ने अवश्य कुछ कहा, पर वह मुझ तक न जा सका । मेरा रेंगना आगे बढ़ गया । दूर मोड़ से मैंने फिर घूम कर देखा, कार जैसा वही बिगड़ी रुकी थी ।

अभी चमेली की लता पर सुवह की धूप नहीं चढ़ सकी थी। आगन के पश्चिमी छोर पर, जहाँ कोमल-सी धूप आयी भी थी, उस पर जैसे भीने बादलो की छाया पड़ रही थी।

‘डी हेविन,’ की गृहस्थी में दशहरा आया, दिवाली आयी, दीपक जले, प्रसन्नता आयी, और अपनी छाया देकर बली गयी—फिर आने के लिये।

गीता और देवन कमरे में बैठे चाय पी रहे थे, बैठक में रेडियो कबीर का भजन गा रहा था—‘भीनी-भीनी बीनी चदरिया’। भजन शायद दोनों चुपचाप सुन रहे थे, पर गीता के मन के तारों पर भजन की वाणी जैसे कपन बनती जा रही थी।

उसे एकाएक सुधि हो आयी—सुधि उसी भजन ने दे दी, एम० ए० द्वितीय वर्ष पास करना होगा, अथवा नहीं। देवन ने वचन दिया था कि गीता दशहरे के बाद बनारस लौट आयेगी। उसकी सारी किताबें वही रुकवा दी गयी थी।

देवन को स्पर्श करती हुई गीता बोली, “थोड़ी चाय और ले लो।”

“तब से यही सोच रही थी?”

गीता हँस दी, मुस्कराती रही, फिर लजाकर बोली—

“मैं अपने एम० ए० द्वितीय वर्ष को सोच रही थी।”

“तो बनारस जाना चाहती हो?”

देवन ने जैसे अपने से कहा हो, गीता के उत्तर देने की कुछ सभावना ही न हुई। वह सिगरेट पीता रहा। छिपती दृष्टि से उसने कई बार गीता को देखा—वह सकोच से दबी जा रही थी।

सिगरेट बुझाकर देवन के बन्द ओटो पर एक लम्बी मुस्कान फैली-फैलती गयी, उसके मम पर वह बोला—

“तुम्हारा साथ पाकर मैंने अपना घर छोड़ दिया, क्षण भर में ओम—चित्रा से अलग हो गया।”

गीता बीच ही में बोली “मिलने के लिये त्यागना ही पड़ता है।”

फिर उसकी आँखें भर आयी।

बहुत धीरे से कहा, “तुम्हारे अलावा मुझे कुछ नहीं चाहिये, एम० ए० में क्या रखा है।”

“सच, कुछ नहीं रखा है।” देवन ने समर्थन किया।

“तुम्हारी इच्छा ही मेरी गति होगी।”

यह कह कर गीता वहाँ से डोल गयी। बैठक में चली आयी। रेडियो को बुझा दिया। भूली-भूली-सी खड़ी रही।

जगी तब, देवन ने जब उसके दायें कंधे पर अपना हाथ रख दिया।

“लगता है तुम्हारे बिना मैं अस्तित्वहीन हो जाऊंगा।”

“मत ऐसी बातें करो।”

“जो सोचता हूँ, कहना पड़ता है।”

देवन आफिस चला गया। दिन ढलते-ढलते आया भी चली गयी। गीता पत्र लिखने बैठी। पहला पत्र उसने अपने पापाजी को लिखा, अपनी कुशलता, घर की शान्ति और सब व्यवस्थाओं की सूचना दी। अब वह



एम० ए०, द्वितीय वर्ष की परीक्षा न देगी—इस भाव को जब वह पत्र के अन्त में लिखने लगी, उसका मन एकाएक बैठ गया। मन ने उसे अनावश्यक समझ कर पीछे टाल दिया—विगत की सीमा में।

दूसरा पत्र सरोज को लिखने बैठी। लिखते-लिखते वह पूर्वग्रह से भर गयी। उसे पता न चला, लेकिन उसी प्रेरणा से उसने पूरा पत्र समाप्त कर दिया।

पत्र दुहराने बैठी—एक बार दुहरा गयी। पुनः सोचने लगी—प्रच्छन्न रूप से सारे पत्र पर गीता की ओर से सरोज को चुनौती थी, जिस पर अनायास ही भुक्कलाहट के स्वर थे।

वह सब गीता की प्रकृति के विरुद्ध था। वह एक-एक पंक्ति काटने लगी और उसका मन अपनी अतुल गहनता से निर्णय करने लगा—‘देवन ने अपने परम मित्र ओम को छोड़ा, जाओ सरोज, मैं तुम्हें छोड़ रही हूँ—ओम में मित्र के प्रति कुटिलता थी, तुम में मेरे ही प्रति नहीं, बल्कि समस्त विवाहिता स्त्री-वर्ग के प्रति अनास्था और उसके भावों के प्रति अभिशाप है। इस सत्य को मैं अब यहाँ से बैठी-बैठी सोच रही हूँ। तू सशक्त है—लेकिन वह पुरुष का सौन्दर्य है, तेरा नहीं—आज तेरी शक्ति से मुझे विरक्ति हो रही है।’

धीरे-धीरे भाव की इन्ही रेखाओं को वह दूसरे पृष्ठ पर उतारने लगी। पृष्ठ भर गया, फिर उसे होश हुआ कि उसे यह नहीं चाहिये—जिससे मन अलग हट जाने के लिये कहता है, उस पर बुद्धि का प्रयोग क्या। अलग, तो मोह क्या? आसक्ति क्यों?

कमरे से उठकर ऑगन में आयी। देवन को सोचा, घूमकर घड़ी देखने गयी।

घड़ी के पास ही मेज पर उसकी दो अमूल्य स्मृतियाँ सँजोयी रखी थीं—‘पापा जी ने मेरे व्याह में सब कुछ दिया था, चलते समय यह ‘सत्यार्थ प्रकाश’ भी दिया था।

और माता जी का यह ‘रामचरित मानस !’

एक-एक को उसने उठाया, जैसे मन के तराजू पर वह तौलने लगी, दोनों के अपने अलग-अलग वजन थे। जब दोनों को उसने एक ही साथ उठा लिया, तब वजन भावों में बदल कर सूक्ष्म-सा हो गया।

गीता अपने पापा और माताजी को दुहराने लगी, कितना नैसर्गिक समन्वय है, श्रद्धा और क्रान्ति में, हृदय और बुद्धि में। कही से वह समझौता भी नहीं है—एकान्त विश्वास है।

चौके से आया की आवाज आयी, “चूल्हे में फटे कागज़ कैसे पड़े हैं?”

गीता पास चली गयी, “यूँ ही है, जला दो!”

अँगीठी जली, चौका धूँएँ से भर गया, आँगन का छोटा-सा आकाश उसे समेटने लगा।

गीता कमरे में आ खड़ी हुई। आया भी पास खड़ी थी; स्नेह से बोली, “अकेली तबीअत नहीं घबराती रानी बहू?”

“आज तो बहुत घबड़ा रही थी!”

“भगवान जल्दी से आँचल भर दे!” आया के स्वर में भक्ति थी। उसकी आँखें मुद गयी थी।

गीता में कुछ दीप्त हो आया, फिर वह जैसे बोझिल हो गयी।

अव्यक्त भार से आनत उसके मुख पर कुछ बरस-सा गया।

वह लजाकर बोली, “तब क्या होगा?”

“तब!...तब..अकेलापन नहीं लगेगा—घर भर जायगा।”

आया चौके में चली गयी। गीता वहीं सम्मोहित-सी खड़ी रही। मानो आया अब भी उसके सामने खड़ी है—कहती जा रही है, घर भर जायगा, तुम एक से अनेक हो जाओगी, और सब अनेक में केवल वही व्याप्त रहेगा—देवन! देवन!! देवन!!!

भरी-सी गीता आँगन में गयी, हाथ-मुह धुला, अंजलि में पानी लिये तुलसी के बिरबे के पास आयी, उस पर चढ़ा दिया, और उसकी पत्तियों पर रुके हुये बूंदों को समेटकर उसने अपने कंठ में डाल दिया, आँखें सींच लीं, माथे पर चढ़ा लिया।

देवन आया। बहुत खुश था, जैसे गीता सामने पड़ी, उसने बाहुओं से उसे उठा लिया—कंठ, ओठ, माथा, आँखें; उसने सब चूम ली।

“यह सब भीगा क्यों है?” उसने पूछा, “तुलसी की पत्ती जैसी सुगंधि आ रही है—क्यों?”

“मैं क्या जानूँ! तुम्ही जानो!!”

गीता ने अपना मुंह उसके अंक में छिपा लिया। वह अलकों से खेलता रहा।

बोला, “अकेली तबीअत घबड़ाती होगी!”

गीता जगी बैठी थी, लेकिन चुप थी।

देवन सलाह देने लगा, “बगल में मिसेज घोष के यहाँ चली जाया करो; फिर वे लोग भी आने लगेंगी!”

“बिना किसी सम्बन्ध के आते-जाते संकोच होता है।” गीता ने कहा।

“पड़ोसी तो है, और नजदीक लाने के लिये उन्हें एक दिन चाय पर, एक दिन खाने पर बुला लिया जाय—बस!”

चाय पीकर दोनों मिसेज घोष के यहाँ गये। मिस्टर घोष को छोड़, संयोगवश परिवार के सब थे—तीनों बड़ी लड़कियाँ—प्रतिमा, वनश्री, रूपसी, और तीनों छोटे लड़के—रोनू, सोनू, दीपू भी।

स्वागत से मिसेज घोष ने उन्हें बैठाया। बहुत कहने-सुनने के उपरान्त उन्होंने केवल चाय स्वीकार की, सो भी सुबह की चाय,। शाम को उनके सब बच्चे एक साथ इकट्ठे नहीं हो पाते थे—यह कठिनाई थी।

घोष-परिवार की, देवन के यहाँ सुबह चाय थी। शाम को ही सब तैयारी हो गयी थी। मिस्टर घोष रेलवे में सुपरिन्टेन्डेंट थे। अक्सर दौड़े पर ही रहते थे। वे भी उसी रात, दस बजे तक आ गये।

आया चली गयी, ग्यारह से ऊपर का समय था। देवन गीता सोने जा रहे थे। उसी समय जीने में खुलनेवाली किवाड़ पर किसी की बड़ी मद्धम-सी आवाज आयी।

किवाड़ खुली, मिसेज घोष थीं। आँगन में चली आयीं, समझाकर

उन्होंने कहा, “सुबह की चाय पर हम लोग नहीं आ सकते । किसी और दिन हो जायगा !”

“क्यों, क्या बात हो गयी ?” गीता ने विस्मय से पूछा ।

“मिस्टर घोष आ गये हैं ।”

“तो क्या हुआ,” देवन ने कहा, “हम लोग उन्हें भी आमंत्रित करते हैं, यह तो और अच्छा हुआ !”

“नहीं,.....उन्हे इन बातों का पता न होना चाहिये—अजीब बुद्धि के आदमी हैं, वे फिर परसों एक हफ्ते के लिये चले जायेंगे; तब हो जायगा ।”

मिसेस घोष तेजी से सुडी, अपने दरवाजे के भीतर चली गयी । गीता हैरान खड़ी थी । देवन को हँसी आगयी, “लखनऊ में रहकर हर बात को सोचने की आदत न डालो, यहाँ यह बीमारी करार दी जाती है ।”

गीता का हाथ पकड़े देवन कमरे में चला गया । रोशनी बुझाने के पहले गीता ने पूछा, “नीचे लेडी डाक्टर से परिचय है कि नहीं !”

देवन ने कहा, “यहाँ परिचय होता नहीं, काम पड़ते ही कर लिया जाता है—क्यों ?”

“उन्हें भी सुबह चाय पर बुला लो ।”

“हो जायगा !”

“उन्हें आमंत्रित तो कर दो !”

“समझो हो गया, वे सुबह तुम्हें चाय पर मिल जायेंगी, बस...सो जाओ !”

गीता को सच, सुबह चाय पर लेडी डाक्टर—मिसेज पालसिंह मिल गयीं । प्रायः पचास साल की उमर थी, पर स्वभाव कुमारियो-सा था । हँसती न थी, सिर्फ मुस्कराती थी, जैसे बचपन से आज तक कभी हँसी नहीं हुई । तभी रोहू मछली की तरह बहुत छोटा-सा मुँह रह गया था । लेकिन मुई प्रकृति ने ओंठ मोटा बना छोड़ा था, संसार की कोई ऐसी

लिपिस्टिक न थी जो उनके ओठों पर न फैल जाती हो। तग आकर पिछले तीन वर्षों से पान खाने लगी थी।

चौथ पर बातों-बातों में उनके मुह से निकल पड़ा, “जिस दिन कोर्ट में हमारा डाइवोर्स हुआ था, उसी दिन से मैं पान खाने लगी हूँ।”

देवन तो उनकी बातों में भाग लेता रहा। पर गीता चुप थी, उसे बस, सुनने ही को मिला—कि चारों ओर सघर्ष और गिरानी है। इस सब का कारण—देश की रोज बढ़ती हुई आबादी है। अगर इसको न रोका गया तो हमारी सरकार डूब जायगी। इसका सबसे सरल तरीका है, आज से अगले पाँच वर्षों तक, देश में एक भी बच्चा न पैदा होने दिया जाय।

गीता ने दूसरे दिन पता लगाया, तीसरे और चौथे भी दिन, मिस्टर घोष घर ही पर थे। सारा वातावरण सन्नाटे से खिंचा रहता था।

उस शाम को गीता और देवन एक पिक्चर देखने चले गये, काफी रात को लौटे, खाना भी बाहर ही खाया।

जीने से ऊपर चढ़े, तो घोष बाबू के यहाँ से कई आवाजों से मिली हुई एक चिल्लाहट सुनायी पड़ी।

ऊपर आकर दोनों ने देखा, मकान में चारों ओर प्रकाश था, आँगन में अकेले मिस्टर घोष बहुत ही इतमीनान से टहल रहे थे। रोती हुई आवाजें शायद भीतर से आ रही थी।

गीता को वही रोककर, देवन तेजी से उनके आँगन में चला गया। वह जब तक पास जाकर कुछ पूछे, मिस्टर घोष की दृष्टि उस पर पड़ी, वे पागलों की तरह चीख उठे, “चले जाओ यहाँ से! चले जाओ! भागो... निकल जाओ।”

उल्टे पाँव, देवन चुपचाप लौट आया। अपने यहाँ की सब बत्तियाँ

जला दी। दोनों ने कपड़े बदले। निस्तब्ध बड़ी देर तक बैठे रहे। लेटने तक की न हिम्मत हो रही थी। समूचा वातावरण रुदन और चीख से रूँघा जा रहा था।

एकाएक जीने की बन्द किवाड पर किसी ने दस्तक दी। किवाड खुली, मिस्टर घोष पागलो की-सी गम्भीरता लिये आँगन में चले आये। कई क्षण तक टहलते रहे।

पास आकर नम्रता से बोले, “मैं क्षमा चाहता हूँ।”

यह कह कर फिर उसी तरह कुछ क्षणों तक टहलते रहे। फिर बोले, “मेरे सब बच्चे यह समझ कर रो रहे हैं कि उनकी माँ मर गयी, पर वह मरी नहीं है, उसे हिस्टीरिया का दौड़ा है, और वह दौड़ा मेरे नाते है।”

यह कहते-कहते वे चुप हो गये, दरवाजे की ओर बढ़े, रुक गये, लौटकर कहने लगे, “मैं जब भी, दो दिनो से ज्यादा इसके पास रह गया हूँ, इसे यह रोग हो जाता है, इसे मैंने अब समझा है—प्रातः चला जाऊँगा।”

यह कह कर वे रो पड़े।

गीता, देवन चुप खड़े थे।

विनय-स्वर में उन्होंने कहा, “कृपा कर आप मेरी पत्नी के पास जाइये, उसके कान में यह जोर से कह दीजिये कि घोष बाबू चले गये।”

देवन के साथ गीता भी गयी। अचेत मिसेज घोष को घेरे सब बच्चे रो रहे थे। बढ़ कर देवन उनके कान पर झुक गया, जोर से उसने कह दिया—‘घोष बाबू चले गये।’

उन में सहसा गति आयी। शरीर भर में कंपन हुई, और कुछ ही क्षणों बाद उन्होंने आँखें खोल दी।

चाय तो बहुत पीछे आयी, पर उसके बहुत पहले गीता और मिसेज घोष की परस्पर मित्रता हो चली। केश-श्रृंगार आदि के बाद वह अक्सर दोपहरी में गीता के पास चली आया करती। पर बहुत देर तक एक स्थान पर नहीं बैठ पाती थीं। उठ कर बार-बार टहलने लगती थी।

कहती थी, 'कमरे में मेरा दम घुटने लगता है।'

'बैठे-बैठे पैर सूजने लगते हैं।'

तभी वह प्रायः रोज बाजार जाया करती थी। वहाँ से सारा सामान स्वयं लाती थी। जिस दिन घर से बाहर निकलने का कोई भी धधा न रहता था, उस दिन वह दूध, अडा और मछली, साग भाजी वालों में से किसी एक के यहाँ केवल यह कहने जाती थी कि 'कल का सौदा अच्छा था, आज का सौदा बुरा था।'

एक दिन गीता को अपने साथ बाजार ले जाने के लिये वह बहुत आग्रह करती रही। पहले तो गीता क्षमा माँगती रही, फिर उसने तर्क दिया, "दोपहर को क्या बाजार में घूमना!" उन्होंने बताया, "घर वाली स्त्रियों को दुपहरी ही में घूमना चाहिये, उस समय सड़को पर आँख फोड़कर अवलोकनेवाले पुरुष नहीं होते! मैं संध्या को निकल जाऊँ तो दशा ही और हो जाती है। यहाँ की संध्या तो और भाँति की स्त्रियों के लिये है। मैं तो पुरुष की दृष्टि से डरती हूँ।"

गीता ने असमर्थता प्रकट की, "बिना उनके।"

मिसेज घोष ने बहुत डाँटा, "इस भाँति पति का दास मत बनो, जीवन वृथा हो जायगा। मुझे अवलोको न, इतनी ही आयु में मुझे आठ बच्चे हो गये—छः जीवित हे, दो जन्मते ही दिवंगत हो गये। स्पष्ट कहती हूँ, मेरी मानो, नहीं तो पछताओगी!"

उस दिन गीता उनके साथ बाजार घूम आयी।

एक दिन वह और गयी।

कपड़े की बहुत बड़ी दूकान थी। वही से मिसेज घोष को एक साड़ी खरीदनी थी। अनेक तरह की उन्होंने साड़ियाँ देखी, पूरे घटे दुकानदार को फंसा रक्खा था, अन्त में बिना कोई साड़ी लिये हुए वह लौटने लगीं। गीता संकोच से दब गयी। विनय के स्वर में बोलती, 'खरीद लीजिये।'

मुस्करा कर लौटी और एक साड़ी बाँधने की आज्ञा दे दी।

उसी बीच, दूकान में चित्रा के साथ ओम प्रविष्ट हुआ। सब की

दृष्टियाँ एक-एक के साथ मिल गयी—लोग अपने-अपने के बाँधते ही रह गये ।

साथ ही साथ, न जाने क्यों गीता के अभिवादन में चित्रा के हाथ भी बाँधे । अवश्य गीता चित्रा से खिच गयी । पर उसने अपने को ऐसा सिद्ध किया, जैसे ओम वहाँ था ही नहीं ।

लेकिन ओम ने तत्काल यह सिद्ध किया कि वह, वहाँ था । झपट कर गीता-चित्रा के बीच जा खड़ा हुआ और आग्नेय दृष्टि से उसने चित्रा की ओर देखा ।

स्वर को घिसते हुए बोला, “होश में रहो !”

सब चुप रह गये, पर मिसेज घोष बरस पड़ी, “सभ्यता सीखो जी, मनुष्य की भाँति रहो ।”

गीता को लिये हुए वह दूकान से बाहर निकल गयी ।

इस घटना की वस्तु-स्थिति का, गीता ने मिसेज घोष को कोई, किसी तरह का आभास न होने दिया । वह सहज रूप से उनके साथ अपने घर चली आयी ।

शाम को देवन से उसने सब कह दिया । यह भी कहा कि देवन, मुझे तुम भी डाँटो । बिना तुम्हारी आज्ञा के मैं बाजार गयी थी । पर देवन ने उस सब का कोई मूल्य ही न दिया, उसके मन को एक बार यह अवश्य लगा कि चित्रा ने उसका भी अभिवादन किया है ।

दूसरे दिन किसी त्योहार की छुट्टी थी और उसके अगले दिन इतवार पड़ता था । सुबह चाय पर बैठे हुये वे दोनों छुट्टी मनाने के लिये कुछ प्रोग्राम बना रहे थे, उसी बीच अमीनाबाद से, पिताजी की चिट्ठी लिये हुए उनका एक आदमी आया । उनके घर, शाम को कोई पूजा थी, उसी में सम्मिलित होने के लिये उन्होंने गीता-देवन को बुला रखा था ।

वहाँ जाने के लिये देवन की कोई इच्छा न थी । इसे बिना प्रकट किये, उसने गीता की राय ली । गीता जाने के लिये जैसे तैयार बैठी थी । उसने देवन को यह कह कर राजी कर लिया ‘कि चाहे जो हो वह



पिता का घर है, मनुष्य जहाँ जन्म लेता है, उसके प्रति अपार मर्यादा होती है। फिर पिता की इतनी छोटी-सी इच्छा अगर हम लोग न पूरी कर सकेंगे तो हमें अपनी गृहस्थी के लिये आशीर्वाद कहाँ मिलेगा ?

अमीनाबाद के लिये रेक्खे पर चढ़ते समय, गीता ने लजाते हुये देवन से फिर कहा, “बनारस से यहाँ आने के पहले, माताजी ने मेरी गाँठ बाँध कर कहा था, “अपने को बांधकर रखना, ऊपर अपने से बड़े हों, नीचे स्नेह पाने वाले हो, बीच में तुम हो—धरती की भाँति अचल, उसी पर पति खड़ा हो, गम्भीर आकाश की तरह।”

सन्ध्या थी। पूजा में बहुत से परिवार आमन्त्रित थे। आर्यादादा का भी परिवार सम्मिलित था।

पूजा के उपरान्त शाम का भोजन भी देवन-गीता को वही करना था। सन्ध्या से आरम्भ होकर, पूजा एक घंटे रात तक चलती रही। पूजा क्या थी—एक मनौती थी। शीतलराय जी की धर्मपत्नी ने इसे मान रखा था। क्यों, किस लिये मान रखा था, इसे शीतलराय भी नहीं जान सके थे।

पूजा के उपरान्त सब परिवार अपने-अपने घर चले गये। आर्यादादा की पत्नी और उनकी दो बेटियाँ—करुणा और अरुणा रुक गयी थी। अरुणा आठ साल की थी, करुणा दस की।

सब लोग फर्श पर बैठे भोजन कर रहे थे। साथ सब थे, केवल मिसेज शीतलराय न थी। बातों के अनेक क्रम चल रहे थे।

उसी बीच अरुणा ने, आर्यादादा से कहा—

“दहा, मैंने आज मनौती की है, मैं पास हो जाऊँगी तो यही पूजा करूँगी।”

सब हँस पड़े। करुणा ने अरुणा को घूर कर देखा।

अरुणा कह उठी, “धूरती क्यों हो, चाची जी ने भी तो मनौती की थी कि देवन जब इस घर से निकल जायगा तब.....।”

करुणा ने उसी दम अरुणा के मुँह पर भापड़ मार दिया। वह चीख

पड़ी। सब के चलते हुए मुंह बन्द हो गये, जैसे सब के मुख पर किसी ने आग रख दी हो।

गीता उसी दम सूख-सी गयी। उसने भरी हुई दृष्टि से देवन की ओर देखा। उसने सर झुका लिया था।

पर जब उसने सर उठाया और उसकी आहत दृष्टि गीता से मिली, वह इस तरह कँप गयी, जैसे अग्नि में स्वर्ण।

घर पहुँच कर देवन ने मुस्करा कर कहा, “हाँ, गीता फिर एक बार बताओ, गाँठ बाँधकर तुम्हारी माता जी ने क्या कहा था?”

गीता निस्पन्द थी।

“यही कहा था न, कि अपने को बाँध कर रखना, ऊपर अपने से बड़े हो, नीचे स्नेह पानेवाले हों—यही न,—कि मैं भूल रहा हूँ?”

अभियोगी की तरह गीता सर झुकाये चुप थी।

देवन भी बड़ी देर तक मौन रहा। एक ही स्थान पर खड़ा रहा—गीता के बिल्कुल समीप। फिर टहलने लगा—टहलते-टहलते बोला, “उपदेश—ऊँची बातें अपनी जगह हैं, जीवन से बहुत ऊपर उठे हुए, जीवन नीचे हैं, उसके अनुभव और भी नीचे, गर्त में हैं। विचारों में जीवन सर्वत्र महान है, पर अपने अनुभवों में यह उतना ही छोटा, निम्न और कुरूप है। इसीलिये मुझे छोटापन, निम्नता और कुरूपता प्रिय है; क्योंकि, यही हमें जिलाते हैं।”

कुछ क्षण चुप होकर वह फिर बोला, “किसी के भी विचारों, उपदेशों को अपने पर लाद कर न चलो, अकेले चलो, तब बहुत ही शीघ्र आगे बढ़ जाओगी। तुम लखनऊ में हो, पर आज तुमने देख लिया कि तुम अभी कहाँ बँधी बैठी हो! बनारस में—वह भी एक गली के, एक घर की चहारदीवारी में।”

क्षण भर तक, गीता देवन को देखती रही, फिर उसने सर झुका लिया। उत की ऊपर उठी हुई दृष्टि में प्रणति थी, आश्वासन था, क्षमा थी। देवन ने उसे पहचाना नहीं। अतः वह चुप न हुआ—आहत, बोलता रहा, चुप तब हुआ, जब देखा, निःशब्द गीता रो रही है।

दोनों दिन की छुट्टियाँ इतनी बुरी बीती, जैसे वे बहुत पहले से शापित थी। यद्यपि उसे सुखी बनाने के लिये देवन ने बहुत प्रयत्न किया। गीता के साथ वह बाहर ही बाहर रहा—कभी काफी हाउस, कभी पिकचर। शेष समय उन्होंने पार्क और चौड़ी सड़कों पर घूम कर बिता दिया।

आया एक दिन बीमार पड़ गयी। गीता ने होटल में भोजन करने का सविनय विरोध किया। वह सफल हुई, और वह अपने चौके की रानी बन गयी। दोनों ने अनुभव किया—उस रात का भोजन अतिशय स्वादिष्ट था। यह क्रम दो दिनों तक चलता रहा। गीता बेहद संतुष्ट थी। उत्साह और प्रसन्नता से वह फूली न समाती थी। तीसरे दिन आया की बड़ी लड़की, गोविन्दी काम करने आयी। गीता ने उससे सब काम कराया, लेकिन चौके में उसके पाँव न पड़ने दिये।

गीता को अपना क्षेत्र मिल गया। अब, उसने मिसेज घोष के पूरे परिवार को भोजन पर बुलाया, एक बार नहीं, दो-दो बार। आर्यादादा का भी परिवार आमन्त्रित हुआ। गृहस्थी में एक ऐसा जीवन आया, जिसे वे 'हेविन' के फ्लैट कभी स्वप्न नहीं देख सकते थे। गीता की स्त्री, जैसे अब तक कही बँधी थी, असहज स्थिति में—अब उसे मानो अपनी समस्त सहज स्थितियाँ मिल गयी। उसका पत्नीत्व अपना श्रृंगार पा गया।

एक दिन सुबह जब गोविन्दी आयी, गीता को वह रोती हुई मिली। उसकी माँ को मियादी बुखार हो आया था।

दोपहर को गोविन्दी के साथ वह आया को देखने गयी। जिस कमरे में वह पड़ी थी, वह किसी साहव का मोटरखाना था। बहुत तेज बुखार था। आँखें बन्द थी, गीता ने जब उसे पुकारा, वह थोड़ी-सी आँखें उभार कर भी न देख सकी, अविरल मूक आसू भरते रहे।

स्वयं जाकर डाक्टर बुला लायी और उसकी दवा शुरू करा दी। लेकिन एक समस्या वहाँ ओर भी विकराल थी। दस साल की गोविन्दी के कंधो पर सब दायित्व था, वह उसे निभाने में लगी भी थी। उससे छोटा, आठ साल का किशुन सब समझता था, लेकिन उसे कुछ जैसे सूझता ही न था। उससे छोटा पाँच साल का मुन्नु और तीन साल का हरिद्वारा पागल से बन रहे थे। हरदम रोते, माँ की खाट से लिपटे रहते और, आपस में मार पीट करते थे।

दिसम्बर में पन्द्रह ही दिन बीते थे। गीता ने पूरे महीने का वेतन, दस रुपये और कुल तीस रुपये आया से सहेजकर गोविन्दी को सौंप दिये।

मिसेज घोष की महरी से गीता अपने बर्तन मलवा लिया करती थी। ट्रेडिंग कम्पनी का चपरासी बाजार से गृहस्थी का सामान ला दिया करता था। शेष, सारा कार्य वह गीता गुनगुनाती हुई स्वयं कर डालती थी।

लेकिन देवन इस से सहमत न था। वह नयी आया या किसी नौकर के पक्ष में था।

एक दिन, गीता ने हँसते-हँसते कहा, “अब मुझे अकेलापन नहीं लगता, अब मुझे मिसेज घोष की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। सारी गृहस्थी तुम्हारे लिये है, इस तरह तुम हरदम जैसे मेरे साथ रहते हो।”

“मैं यही तो नहीं चाहता, कि गृहस्थी में तुम खो जाओ, तुम्हारा मूल्य इस से बहुत ऊपर है।”

गीता चुप रही।

वह कहता गया, “तुम एक साथी की भाँति सदा मेरे साथ रहने के लिये हो। ट्रेडिंग कम्पनी मुझे चार घंटे तुम से अलग रखती है, अब तुम्हारी यह गृहस्थी तुम्हें और न जाने कितने घंटों अलग रखेगी।

गीता धीरे से बोली, “हमारी आया जल्द ठीक हो जायेगी।”

“शहर में आया एक नही होती; अनेक होती है, जिसे पैसा दिया, वही आया बन गयी। चाहो तो कल दूसरी आ जायेगी।”

“इतने दिनों से उसका हमारी गृहस्थी से सम्बन्ध रहा है।”

देवन मुस्कराया, “सम्बन्धों में अपने को बाँध देना, सदा बँधे रहना, ये पुराने दृष्टिकोण हैं, गीता!”

कुछ देर चुप रहने के बाद देवन ने बड़ी गम्भीरता से कहा, “पुराने संस्कारों से नये जीवन का मेल नही हो सकता। किसी को जरूर बदलना होगा।”

गीता ने सब मान लिया, समझाते के रूप में नही, भक्ति-रूप में। रात को देवन बहुत प्रसन्न था। उल्लास से भरा था।

बातों-बातों में बड़ी रात बीत गयी। दोनों अपने-अपने में ही नही, एक दूसरे में खो गये थे और उसी एकात्म स्थिति में उनका भावलोक उतर आया था।

देवन ने कहा, “तुम्हें आगे बढ़ा देने के लिये मैं योग नही दूंगा, बल्कि स्वयं योग बन जाऊँगा।”

“‘मैं’ ‘तुम’ जो हो, ‘तुम’ ‘मैं’ जो हूँ।” गीता ने जैसे गीत की कोई पक्ति दुहरा दी।

देवन कहता गया, “नयी कार होगी, नये ढंग के तुम कपड़े पहनोगी, सारा ‘मेक अप’ और होगा। दिनचर्या और होगी।” एकाएक गीता ने उस के भाव-तप्त मुख पर अपनी शीतल हथेली रख दी—“तब तो मैं चित्रा की भांति लगने लगूंगी।”

देवन कुछ बोला नही। बड़ी देर तक गीता उस के कुछ बोलने की प्रतीक्षा कर रही थी। दबे स्वर से बोली—

“जिस से आकर्षित होकर, जिसे बिल्कुल नया, मौलिक समझ कर तुम ने अपना सुहागिन बनाया, वह, यह सब तो नही था। वह तो कुछ और था।”

देवन हँस पड़ा, “था, अब भी है और सदा रहेगा।”

दोनों चुप हो गये। गीता की साँसों में एक अव्यक्त दबाव बढ़ता जा रहा था।

सहसा गीता का बाँध टूटा, “मेरा वाह्य चित्रा-सा हो, भीतर में गीता बनी रहूँ।”

प्रसन्नता से देवन सिहर गया, “चित्रा से भी आगे उस से भी नवीन मौलिक।” उल्लास से वह उठ बैठा। “तुम ने मुझे बाँध लिया गीता।”

जब देवन के भावों का उद्गार थमने लगा, गीता ने प्रणति-स्वर से कहा, “मैं अपने भीतर की एक सीमा हूँ देवन ! मैं, और वह सीमा मेरा सारा स्वत्व तुम्हें समर्पित है, उसे तुम चाहे जो बना लो, वह बन जायगा—पर उस की सदा यही सीमा रहेगी, वह बाहर-भीतर दो नहीं बन सकता।”

जिन उठे हुये भावों को वह बाँध न सकी, वे उस की आँखों में उतर आये।

“घबराओ नहीं, वह मुझ पर है। मैं तुम्हें सुलभा लूंगा—तुम्हारी सीमाओं में भी आकर्षण है—तुम्हें खोलकर समझने की जिज्ञासा, तुम्हें लेकर आगे बढ़ने का उत्साह।” गीता ने अपना सर देवन के वक्ष पर रख दिया। डरे हुए शिशु की तरह वह बोली, “बाहर के द्वन्द्व से मेरे भीतर की हत्या न हो जाय।”

“यह क्षणिक निर्बलता है, बस।”

“पर सत्य है।”

अनेक क्षणों तक देवन अपने में कुछ बुनता रहा—बोला—  
“उदाहरण के लिये चित्रा का नाम तुमने लिया, शायद उसी से तुम इतना डर भी गयी !”

“चित्रा से नहीं, उसके स्वरूप और विधान से।”

“तब मैं तुम्हारा ही उदाहरण दूंगा,” देवन आश्वस्त स्वर से बोला,

“तुम्हारे भीतर का सौन्दर्य, मौलिक है, अपूर्व है, उसी की अनुरूपता बाहर मिल जायगी। अब ठीक है न। ....ठीक !!”

गीता मौन रही फिर बोली, “एक बात कहूँ, क्षमा करोगे। मेरा सौन्दर्य तुम्हारे देखने के लिये है, ससार के लिये नहीं।”

देवन ढीला पड़ रहा। मन-ही-मन कुछ पी कर रह गया। केवल इतना ही वह बोला, “तुम तो तर्क करती हो” फिर उस ने मुँह ढक लिया।

गीता बुलाती हार गयी, पर वह बोला नहीं। प्रायः आधे घंटे तक वह निश्चेष्ट बैठी रही—बिल्कुल सूनी-सूनी। मन-मस्तिष्क में कुछ भी न आ-जा रहा था।

वह रोशनी बुझाने उठी। न जाने क्या उस के मन में आया। भुक् कर उस ने चुपके से देवन का मुँह खोला। वह सो गया था। गीता का मन संतुष्ट हो गया।

सोते हुए देवन को वह बहुत देर तक देखती रही। उस के मन को स्पष्ट हो गया कि वह द्वन्द्व बाहरी था, उसकी जड़ कहीं भीतर नहीं जा सकी है।

“देवन, तू मेरी परीक्षा ले रहा था !”

गीता ने स्फुट-स्वर में कहा। धीरे से उसका सर ढक दिया। पायतान गयी, चरण छुये। सारा बोझ उतर गया।

उस गृहस्थी में जो नयी आया थी, वह मूल लखनऊ की रहनेवाली थी। पैंतीस में पड़ी थी। हाथ धोने-पोछने के लिये उस को साबुन-तौलिया देना पड़ा था। उमर से ज्यादा-से-ज्यादा तीस वर्ष की थी, बच्चे एक भी न थे, घरवालों तीसरा था। जाति की ठकुराइन बताती थी।

शाम के तीन से ज्यादा बज रहे थे। हाथ की मशीन पर गीता अपने दो ब्लाउज सिल रही थी। आया नाश्ते की तैयारी में लगी थी।

एक ब्लाउज में बटन टॉक कर गीता कमरे में गयी। ब्लाउज पर उस के मेल की साड़ी पहन कर वह आँगन में लौटी। न जाने क्या आहट हुई, वह आँगन को पार कर सड़क की ओर देखने लगी।

तब तक आया बोली, “बहूजी, आप अपने कपड़े खुद सिल लेती हैं ?

“क्यों ?” गीता ने घबड़ा कर पूछा।

तपाक से वह बोली, “एक बार ‘गज’ में सिलवाइये, तब देखिये !”

गीता हैरान-सी खड़ी थी।

“यहाँ तो अपने हाथ से सिर्फ बच्चों के कपड़े सिले जाते हैं, वह भी बहुत कम।” बोलती हुई आया रसोई घर में चली गयी। गीता की इच्छा हुई कि वह बाहर से उस कमरे में कुडी चढ़ा दे। तब तक वह बाहर निकल आयी।

आँगन में दृष्टि घुमाती हुई बोली, “गमले में तुलसी का पेड़ मैंने कहीं न देखा था। तुलसी का पौदा !!... बहू जी; साहब से कहिये, आज-कल गमलों में गरहरा, स्वीटपीज, वरवीन्स वगैरह लगवा दे।”

गीता अपने कमरे में जा खड़ी हुई। ‘ये फूलों के नाम हैं, देखने को कौन कहे, मैंने इन्हें सुना तक नहीं’।

देवन आया। गीता बहुत उदास थी, पर उसे वह बहुत ही सावधानी से दबाती जा रही थी। देवन ने उधर बहुत ध्यान भी न दिया। वह अपने में भूला था।

एक घटना हुई थी।

देवन की कम्पनी में आडीटर आया था। उसे लिये हुए वह पुराने काफी हाउस में गया। उसका मनोरंजन किया और उसे विदा देकर वह वहीं बैठे-बैठे सिगरेट खत्म करने लगा।

उसी बीचा देखा, ज़ाती कपूर के साथ, उसी की कार से उतर कर चित्रा आ रही थी।



कँपकर देवन सिकुड़-सा गया। दृष्टि नीचे गाड़ ली। जगहे और भी थी, पर ज्ञानी उसे लिये हुए इसी के पास आ बैठा।

ज्ञान्नी हमउमर था, ओम-देवन का दोस्त था। हजरतगंज में, उसकी कपड़े की सब से सुन्दर दूकान थी। पर केवल व्यक्ति के आधार पर—और मूलतः 'सटरडे क्लब' के मन्त्री के रूप में वह इन सब का दोस्त था।

तो, अदब से वह देवन के पास आ बैठा। देवन का सर अब भी नीचे गड़ा था। ज्ञानी ने कंधे पर हाथ रख दिया। फिर बनावटी चौक से उसने सर उठाया। चित्रा खड़ी थी—मूर्तिवत—सफेद 'सूट' में, जैसे 'शो केश' में कोई औरत खड़ी हो।

देवन घबड़ा-सा गया। उठ खड़ा हुआ, अवश उसके दोनों हाथ चित्रा के स्वागत के लिये उठे। हाथ जैसे उसके शरीर से अलग थे, देवन ने उन्हें बाँध लिया, बाँधे ही उन्हें पेट में डाल लिया। और उनकी अँगुलियों को तोड़ने लगा।

देवन को भरी आँख से देखकर चित्रा ने दृष्टि गिरा ली, और उसी गति में वह बैठ गयी।

तब, एक देवन को बैठना पड़ा, पर जैसे दूसरा देवन भाग निकला—इतनी कातरता से भागा कि बाहर सड़क पर आते-आते उस का दम बैठने लगा।

ज्ञानी को कुछ भी न लगा। उसने देवन का हाथ पकड़ कर सहज ढंग से कहा, "ऊपर चलोगे !..." कहते-कहते उठ पड़ा, चित्रा को भी उठा लिया, "ऊपर कुछ 'प्राइव्सेसी' रहेगी।"

वह, जो डरकर सड़क पर भाग गया था, फिर अपने मूल देवन में आ मिला। तीनों ऊपर गये, पीछे-पीछे 'बैरा' चढा।

बैठने से तीनों त्रिभुजाकार हो गये।

देवन किसी ओर भी दृष्टि करता, चित्रा सामने पड़ती। अवश उसने सर झुका लिया। काफी आयी, पी भी जाने लगी, पर देवन अब तक निष्क्रिय रहा।

और चित्रा ?

अब तक उसके मुह से एक शब्द तक न फूटा । केवल ज्ञानी अपने सहज ढंग से बोलता रहा और जब बहुत आवश्यक हो जाता तो अल्प स्वर में कुछ देवन भी कह लेता ।

ज्ञानी को आश्चर्य हुआ, उसने पूछा, “अरे ! यह क्या बात है, तुम लोग इस तरह चुप क्यों हो ?”

फिर भी दोनों चुप थे ।

ज्ञानी को वस्तु-स्थिति स्पष्ट-सी होने लगी, “तो यह बात है !”

“नही, नही, कोई बात नहीं है !” देवन ने कहा और वह उठ पड़ा, “मुझे जाना है ।”

बात के साथ ही वह नीचे उतर गया—एक बार घूम कर देखा तक नहीं ।

ज्ञानी ने अपना प्याला खत्म कर दिया । चित्रा की ‘काफी’ ठंडी हो गयी ।

ज्ञानी ने कहा, “दूसरी लो ।”

आज उसने सर हिलाया और जैसे एक ही घूट में वह सारी पी गयी । ज्ञानी अतुल जिज्ञासा और विस्मय से पूछता जा रहा था— “क्या बात है ? कुछ हुआ है क्या ? कैसी बात है ? मुझे भी बताओ !”

प्याले को रख कर चित्रा ने अत्यन्त सरलता से कहा— “कोई बात तो नहीं ! ...यही हो सकता है कि इस समय मुझे तुम्हारे साथ देख कर उनका मूढ़ सहसा कुछ बिगड़ गया हो ।”

“ताज्जुब है,” कुछ देर तक विस्मय में उस के ओठ खुले रहे, बोला,

“हो सकता है, इधर कुछ बदला-बदला-सा लगता है, क्लब तो उस ने छोड़ ही दिया, दिखता भी कम है ।”

चित्रा मुस्करा कर रह गयी ।

ज्ञानी ने कहा, “बीबी की शायरी में लगा रहता होगा ।...वैसे बीबी

तो उसे खासी हसीन मिली है—पर कुछ भेपू-सी है। क्या ख्याल है ?”

“मुझे तो सब तरह से बहुत अच्छी लगी।” चित्रा ने कहा और उस के माथे पर पसीना आ गया। उसे सुखाती हुई बोली, “अब मैं घर जाऊँगी।”

कुर्सी पर अपना पर्स भूल कर वह नीचे उतर आयी। कार पर बैठते-बैठते उसे सुधि हुई।

अपनी इस ज्ञात घटना को देवन ने गीता से कहा। पर जो उसे अज्ञात थी—जिसके विकास को बिना देखे वह चला आया था, उसे भी अनुमान के आधार पर उस ने कह सुनाया।

चित्रा ने उस से कहा होगा कि अब देवन और हमारे बीच कोई सम्बन्ध न रह गया। जब ज्ञानी ने कारण पूछा होगा तो चित्रा ने यह बताया होगा—कि देवन अपनी पत्नी, गीता के सम्बन्ध की पवित्रता के आगे दुनियाँ के सारे सम्बन्धों को हेय समझता है। तब ज्ञानी ने हँसकर कहा होगा—यह मजाक है।

गीता ने कुछ ग्रहण न किया, लेकिन नयी आया की बातें उसके मन से न हट रही थी, जैसे जम गयी थी। देवन को भी उसने कुछ न बताया। बताने को कुछ था भी नहीं। उसमें तो सब कुछ मूक अनुभव के स्वर थे।

दोपहर को वह अपनी पुरानी आया के पास गयी। पूरे इक्कीसवें दिन उसे ज्वर उतर गया था। पीली हो गयी थी—लगती थी जैसे अस्सी वर्ष की वृद्धा हो। मिट्टी, राख, कालिख से उसके सब बच्चे पट से गये थे। गोविन्दी की दोनों आँखें आ गयी थी। हरिश्वा की दायाँ बाँह में मुन्गू ने दाँत से काट रखा था, वह पक गया था। किशुनवा ने तीन दिन पहले, मोड़ की छोटी दूकान से एक बंडल बीड़ी चुरा ली थी, गोविन्दी ने उसकी नंगी पीठ पर इतनी जोर की छड़ी मारी थी कि वह हिस्सा अब तक नीला पड़ा था।

गीता जब आया के घर पहुँची, उस समय गोविन्दी आँख-दर्द से, बाहर खड़ी चुपचाप रो रही थी। भीतर, आया की खाट के पैताने किशुनवा सो गया था। हरिइवा उसके पास पड़ा-पड़ा रो रहा था।

गीता को देखते ही आया खाट से उठने लगी, उठ न सकी, गिर पड़ी। गीता उसे सम्हाले झुकी रही।

आया धीरे-धीरे बातें कर रही थी, पर उसकी आँखें बड़ी तेजी से जैसे पिघलती जा रही थी। गीता ने उसे यह न बताया कि उसकी गृहस्थी में नयी आया आयी है।

गोविन्दी, किशुन और हरिइवा को डाक्टर के पास दिखा कर वह आया के यहाँ न लौटी, सीधे अपने घर चली आयी।

उसे चित्रा याद आयी, देवन की सुधि हुई, नयी आया का ध्यान हो आया। उस का मन निर्णय करने लगा। वह कभी अब आया के घर न आयेगी। उस के वे वच्चे, गोविन्दी की वे आँखें, आया का वह पीला-मरा-सा मुख—ये सब हैं—रहा करें, मुझ ही से क्यों? ये मुझे क्यों पीछे खींचते हैं?

आया आयेगी तो मैं स्पष्ट कह दूँगी कि मैंने नयी आया रख ली है—विवश थी—विवश क्यों, वैसे ही, जैसे मेरा देवन कहता है, जिसे ही पैसे दिये—वही आया हो गयी—अपनी आवश्यकता, पैसे सब कुछ, शेष कुछ नहीं।

दूसरे दिन शनिवार था, उस दिन देवन ने बड़े मनोयोग से कहा—“कल लखनऊ का ‘फलावर शो’ है—देखने चलेगे।”

गीता बहुत प्रसन्न थी। दौड़ी अपना वक्स ले आयी, खोल कर देवन के सामने रख दिया—

“पसन्द कर लो हों, मैं वही पहनूँगी।”

देवन ने पसन्द कर दिया।

“कहो तो अभी पहन कर दिखा दूँ।”

देवन की आँखों में भाँकती हुई वह अपने कमरे में दौड़ गयी। देवन

आँगन में खड़ा गुनगुनाता रहा। उसी क्षण मैसेज घोष आयी। एक क्षण देवन के सामने खड़ी हुई, फिर सीधे गीता के पास चली गयी।

हँसती हुई लौटी और गद्गद् स्वर से बोली, “वधाई देती हूँ।”

देवन सामने आ खड़ा हुआ। प्रसन्नता से कुछ बोल न सका, आँखों में ‘क्यों’ के पीछे की जिज्ञासा अवश्य भाँक गयी।

“पहले मुह मीठा करो, तब बताऊँगी।”

“तय रहा !”

क्षण भर तक मैसेज घोष के मुख पर कौतूहल था, लजाती हुई बोली, “बह की गोद भर रही है।”

आह्लाद से देवन भर गया। अपने-आप उसके पैर गीता के कमरे की ओर मुड़े। साड़ी पहन कर गीता कमरे से बाहर ही निकल रही थी, देवन पर नजर पड़ते ही, उधर उसके पैर भीतर ही थम गये।

गीता को बाहें से पकड़े हुए वह आँगन में लौटा। गीता लज्जा के भार से झुक गयी थी।

प्रेम-स्वर में देवन बोला, “चोरी ! चोरी ! मुझे नहीं बताया ?”

आँख छिपाये वह कमरे में भाग गयी। मैसेज घोष बोली—“उसे क्या मालूम ! अभी दो ही महीने का तो है।”

देवन स्वयं भागा बाजार गया, फल, नमकीन, मिठाइयाँ सब ढेर-सालाद लाया। मैसेज घोष के परिवार की दावत हुई।

गीता-देवन को मैसेज घोष ने भी दावत दी। वनश्री का नृत्य हुआ, प्रतिमा ने सितार बजाया और रूपसी ने फिल्म के कई संगीत सुनाये।

दूसरा सप्ताह।

एक शाम दोनों विक्टोरिया पार्क में गये। विनोद से टहलते हुए दोनों ने उस शाम को रात बना दी।

ऊपर से ठंड बरस रही थी। पार्क के चारों ओर बारीक कुहरे ने शहर

के धुएँ को पकड़ रखा था। और हजरतगंज का कोलाहल धुएँ की उन असह्य मिली हुई रेखाओं से ऊपर चढ़ कर प्रतिध्वनि-सा लग रहा था।

लेकिन पार्क के गीता-देवन पर किसी का प्रभाव न था, दोनों स्वयं एक दूसरे से बँधे घूम रहे थे।

कुछ सोचती-सोचती गीता खड़ी हो गयी। देवन को दायें हाथ से पकड़, सम-स्वर से बोली—

“तुम से मैं अपने मन का एक पाप कहूँगी।”

देवन चुप था, पूर्ण सतुष्ट-सा।

“न जाने क्यों एक बार मेरे मन में यह आया था कि शायद मेरे अक भरने की खबर से तुम बहुत खुश न होगे।”

“क्यों?” उस ने बच्चो की-सी सरलता प्रकट की।

“मुझे नये स्तर पर लाने के पथ में तुम्हारा बोझ और बढ़ जायगा।”

हारी-थकी-सी मुस्कान उस के ओठों पर फैलती रही। देवन के सच्चे उत्साह ने उस में जीवन डाल दिया। श्रद्धा से वह सराबोर हो गयी। भारी आँखों से कहने लगी, “तुम इतने प्रसन्न, इतने सतुष्ट हो कि मेरे मन का वह क्षीण-सा भ्रम आज मुझे पाप-सा लग रहा है, एक क्षण के लिये भी सही, पर उस भयकर झूठ ने मेरे मन को क्यों दबा लिया?”

देवन उसे लिये पार्क से बाहर निकल आया। कई बार समझाया—टोका, सतोष भी दिया—“तो क्या हो गया? कोई बात नहीं! तुम में नया विकास देने के पथ में मुझे और उत्साह मिलेगा।” कुछ क्षणों के बाद बोला, “तुम्हें पाकर गृहस्थी के नाम पर मैंने स्वर्ग की कल्पना की, आनेवाला शिशु उस स्वर्ग का विनोद होगा।”

आश्वस्त-सी गीता देवन से सटी हुई चलती रही। गीता को गुद-गुदा कर देवन हँस पड़ा, “बच्ची कही की, हर छोटी-सी-छोटी बात को भी तुम पाप-पुण्य की सीमा में बाँध लेती हो! इस से तो सारा जीवन बँध कर घुट जाता है।”

हँसती हुई आँखों से उसने गीता को देखा।

दुलार से गीता बोली—“पगली माँ ने बताया था, भावो मे किसी के प्रति अक्विवास या दुर्भावना आ जाना—मनसा-पाप है।” देवन को हँसी आ गयी—“तो पाप के भी प्रकार होते है ?”

गीता लजा गयी ।

“पाप-शाप कुछ नही होता सब—हमारी कमजोरियाँ है जिसे हमने दो भागों मे बाँट रखा है !”

बड़ी गूढ दृष्टि से देवन ने गीता को देखा । देवन की आँखो मे एक अजब-सी चमक आ गयी थी । वह चमक सड़क पर फैली हुई बिजली की रोशनी से भी निरपेक्ष थी । गीता उसमे मुग्ध हो गयी । मन श्रद्धा से झुक गया । उसे स्पष्ट लगा, वह रोशनी जीवन के अनुभवो से उभर कर आयी थी—तभी उसमे विश्वास और सत्यता की तीव्र सवेदना थी ।

ऐसी ही स्थितियों मे गीता अपने पिछडन और अभावो को स्पष्ट रूप से समझ पाती थी । भीतर-ही-भीतर उसके मन मे आगे बढ़ चलने के लिये ज्वार-सा कुछ उठने लगता—मूक स्वर मे कहती—सत्य वही है जो अनुभव सापेक्ष हो, वह सब असत्य है, जो हम पर लादा जाता है ।

देवन सो रहा था। थोड़ा-सा दिन चढ़ आया। आया नाश्ते की तैयारी में थी। स्नान करके गीता अपने कमरे में गयी। लौट कर जब आँगन में आयी तो उसने देखा, पुरानी आया तुलसी के गमले में पानी डाल रही थी।

गीता हतप्रभ-सी रह गयी। वह धीरे-से कमरे में लौट गयी। रसोई घर से नयी आया निकली, आगन्तुक पर दृष्टि पड़ी।

“कौन ? क्या कर रही हो ?”

पुरानी आया कुछ बोली नहीं, पास चली आयी और ऐसी दृष्टि से उसने नयी आया को देखा, कि वह सहम-सी गयी। उसने साहब को पुकारा। गीता को बाहर निकलना पड़ा। आया ने उसके चरण छुये, गीता चुप खड़ी थी।

नयी आया ने कहा, “साहब, चाय तैयार है !”

गीता ने कुछ न सुना, धीरे से पुरानी आया से बोली—“तुम अभी और आराम करो।”



“मैं बिल्कुल ठीक हूँ रानी बहू ! आप की सेवा ही मे मुझे आराम है ।”

यह कह कर उस ने भाड़ू उठा लिया । देवन के उठते-उठते उस ने सारे घर को धुलकर उसमें नयी व्यवस्था डाल दी ।

दोनों बैठे चाय पी रहे थे, वह कमरों को भाड़-पोछ रही थी । उसी समय जीने पर से किसी ने ‘गीता’-‘गीता’ कहकर पुकारा ।

“अरे ! पापाजी !” गीता दौड़ी । जीने पर फाट-सी पड़ी, माँ के अक में जा गिरी ।

पापा-माताजी बनारस से उन्हें देखने आये थे । एक ही क्षण में घर भर गया—गीता ही जैसे घर की सारी धरती पर फैल गयी ।

भावों में माँ ने देखा—गीता-देवन और उनके बीच भावों में एक नवजात शिशु, उसकी तोतली वाणी ‘पा’, ‘मा’, ‘ना’, ‘ना’, ... ।

इतनी प्रसन्नता, इतना आह्लाद गीता ने माताजी के मुख पर कभी न देखा था । शान्त, सुखी गृहस्थी को देखकर उन्हें न जाने कितनी अपार सम्पत्ति मिल गयी थी । पापाजी फूले न समाते थे ।

माँ गीता को समझाती रही, “इतवार... मंगल को अर्घ्य दिया करना, याद है न, इतवार, सूर्य को और मंगल हनुमान को हर गुरुवार को तुलसी के नीचे घी का दीपक जला दिया करना, हाँ ।”

देवन की बलैया लेती हुई बोली, “बच्ची ही तो है, बहुत सम्हालना । इतना पढ लिया है, पर अपने लिये बेसुध रहती है । सुधि रखना । जो कुछ खाने-पीने का जी करे, उसे पूरा कर लेना !”

सब तो चुप थे । गीता वहाँ से हट गयी थी । पापा जी बड़े अन्दाज से बोले—“तुम्हारी तरह सब का जी नहीं है । भाषण बन्द करो ।”

“चुप रहो जी ।”

माताजी कहती गयी—“जीने पर सम्हलकर उतरना-चढ़ना हाँ, अरे गिती कहाँ गयी ?... गिती ! ओ गिती !”

पुकारती-पुकारती वह गीता को ढूँढने लगी । सोफे पर वह औंधे मुँह

पड़ी मिली। पापा-देवन भी पास आ खड़े हुये। गीता का सर माँ के अंक में गड़ा था। कह रही थी—

“आज न जाओ। रात भर रहो न ! जाना ही था, तो बीरू भइया को क्यों नहीं लाये ? बाजार का सौदा, दूसरे के नल का पानी रहेगा, मैं भोजन बना कर खिलाऊँगी।”

पापाजी हँस पड़े। गीता घबड़ा उठी। दौड़ कर पापाजी के कंधे से झूल गयी।

पीठ थपथपाते हुए वह बोले, “इन्हे रोक लोगी तो इनके पत्थर के भगवान को भोग कौन लगायेगा ? बेचारे भूख-प्यास से मर न जायेंगे !”

“चलो, चलो, नास्तिक कहीं के !”

वे रुके नहीं, चार बजे की गाड़ी से चले गये। नयी आया भी उसी शाम को चली गयी।

फिर वही तीन रह गये।

दो दिनो तक, अकेली गीता का मन कुछ खोया-खोया-सा रहा। अगले दिन, दोपहर को जब वह सोफे पर नया ‘कवर’ चढ़ा रही थी, उसने सुना, मिसेज घोष की तरफ से सितार पर संगीत उभर रहा था। उसी क्षण यह बात भी उसे याद आयी—देवन को सितार बहुत पसन्द है—और ?

सिनेमा के कोई-कोई गीत।

फिर सोचा, सितार और सिनेमा के गीत।

और ?

कपड़े इस तरह से पहिनने चाहिये कि बिना प्रयत्न किये अग दिख जाय। सो भी कौन अग ? छि. लाज आती है।

उसे पता नहीं, पर वह भूली-भूली-सी मिसेज घोष के यहाँ चली गयी। बैठक में दृष्टि गयी तो सहसा सितार का सगीत टूट गया। प्रतिमा बाहर आयी। पता चला, मिसेज घोष बाजार गयी है।

गीता बैठक में गयी तो उसे एक बात का पता और लगा, प्रतिमा अपनी शान्ति के लिए सितार बजा रही थी। सगीत शान्ति भी देता है, गीता ने इस सत्य को अपनी अनुभूति बना ली। देवन को भी तो सितार पसन्द था।

गीता के मन ने सितार बजाने का व्रत ले लिया।

प्रतिमा द्वारा, उसी के ही सितार पर उसने प्रारम्भिक ज्ञान पा लिया। तब देवन के साथ वह स्वयं एक सितार खरीदने गयी। साथ प्रतिमा और मिसेज घोष भी थी।

दूसरे सप्ताह से, सुबह-शाम एक सितार-मास्टर आने लगे। फिर तबला भी खरीदना आवश्यक हुआ।

दो ही महीने में फल यह हुआ कि गीता सितार बजाने लगी—बहुत साफ और बहुत ही निश्चित, दूसरे, एक चमत्कार भी हुआ—वह तबला भी बजाने लगी।

इस बीच, मिसेज घोष के परिवार से गीता को आसक्ति-सी हो गयी। प्रतिमा को वह जिया कहने लगी, मिसेज घोष को माँजी और स्वयं उन में घुल-सी गयी।

व्यवहार में देवन की बतायी हुई एक बात गीता को सदा याद रहती थी। किसी का भी व्यक्तिगत जीवन जानने के लिये अपनी ओर से किंचित भी प्रयत्न न होना चाहिये। अगर कोई विश्वास पाकर स्वयं बताने लगे तो उसे अपने में मत जोड़ो उसका उसी को लौटा दो। पर दूसरे को नहीं।

गीता अनुभव करती थी कि वह जिसके भी सम्पर्क में आती है वह उस में उसी की बतायी हुई, कही हुई, या आभासित कोई-न-कोई अति-

वैयक्तिक-रहस्यपूर्ण कहानी पा जाती है। उसे वह अपने में बिल्कुल नहीं जोड़ती पर अवश कुछ जुड़-सा जाता है। वह उसे उसी को लौटा देती है पर उसकी परछाई नहीं लौटती—दुराग्रह से रह जाती है। इस से भी अलग, गीता में एक प्रतिक्रिया और होती थी—वह उन सब के प्रति कृतज्ञता से भर उठती थी।

प्रतिमा से बहुत ही कृतज्ञ थी। वह सितार के सगीत में क्यों अपनी शान्ति ढूँढती है, क्योंकि वह कही खो गयी थी।

इसी तरह जैसे सब का, जन-जन का कुछ खो गया है—अपने हाथों, दूसरो के हाथों। और सब अपने-अपने व्यापारों में उस खोये हुए तत्त्व को अनवरत ढूँढ रहे हैं। अगर वह मिल जायगा, तो क्या वे शान्त और पूर्ण हो जायेंगे? शायद नहीं, अशान्ति ही तब तक उनका स्वत्व हो जायगा। वे सब वही हो जायेंगे, जिसमें वे रह रहे हैं। सोच रहे हैं।

लेकिन मेरा देवन क्यों ?

मैं क्यों ?

हम तो शान्त हैं।

गीता देवन अभी एक पार्टी से लौटे थे, दूसरी पार्टी में शामिल होना था। दोनों एक ही सोफे पर बैठे थे।

देवन ने उस के अलक छूकर कहा, “इसी सूट में फिर चलोगी ?”

गीता मुस्करा आयी।

“पार्टी भर में तुम से ज्यादा हसीन कोई न था।”

“कपड़े और ‘मेक अप’ की दृष्टि से ?” गीता ने आँखों में कुछ भर कर पूछा।

देवन मुस्कराया और मुस्कराता ही रहा।

बोला, “एक साड़ी एक ही समय पहनी जाती है, थोड़ी देर के बाद ‘मेक अप’ पुराना-सा, लगने लगता है।”

गीता हँस पड़ी, “तभी मैं औरो को देखती हूँ—खास कर पार्टियों में—मौका निकाल कर बैग खोला, भट ‘मेक अप’ पर नयी पर्त डाल ली।”

हँसती हुई गीता दूसरे कमरे में चली गयी। देवन सिगरेट पीता रहा।

उस कमरे से गीता की दुलार भरी आवाज आयी, “अब मुझे बहुत न दौड़ाया करो देवन ! याद है न, माताजी ने मना किया था !”

“क्यों ?”

“क्यों-क्यों क्या ? रोज भूल जाते हो ? वही, जिस से सब कपड़े तग हो गये !”

देवन-गीता, साथ-साथ हँसे, अलग-अलग कमरों से। बीच में दीवार थी जो मानो उन की कृतज्ञता में झुक-सी गयी और दोनों की हँसी एक हो गयी।

बिल्कुल नये सूट में गीता आयी। पहले लजाकर लाल हो गयी, फिर बोली, “पसन्द है ?”

देवन ने उसे आलिंगन में कस लिया, चूमने चला तो झिझक गया।

“मेक अप नहीं किया ?”

“अरे, भूल गयी, चलो हटाओ, क्यों, कर ही लू ?”

एक क्षण देवन को एकाग्र दृष्टि से देखती रही। मानो उसे देवन की बोल की अपेक्षा थी। स्वयं बोली, “भाई, मैं तो थक गयी... कितनी दौड़ है यहाँ की जिन्दगी में।”

“फिर व्याख्या करने बैठ गयी !” देवन ने उसे दाये कंधे पर से थाम लिया, “थक गयी तो मैं मेकअप कर देता हूँ।”

दोनों जब बाहर निकले, गीता उल्लास से भरी थी। आत्मगौरव का एक मद्धम-सा नशा था उसमें। वह अपने को प्रतिक्षण देवन के अनुरूप बनाती चल रही है—यही उसके मन का पर्व था। देवन की बाँह से जब उसका सर छू जाता, तो वह धरती से ऊपर उठ जाती—स्वामिनी से माननी बन जाती और उस से भी ऊपर उठती-उठती वह देवन के अंक

में बैठकर चलने लगती। फिर उसे लगता, अनुभूति होती, वह देवन के अक मे नहीं है देवन उस के अक मे है जिस का प्रतीक उसके गर्भ मे है।

वह प्रतीक जब से गर्भ मे आया है तब से मुझे लगा देवन ने मुझे बहुत दिया है—इतना दिया है कि मैं कभी उन्मृष्ट नहीं हो सकती। जिस की मुझे आशंका थी, वह वरदान हो गया। तभी मैं ने उसे मनसा-पाप कहा था, पर मेरे देवन ने मुझे मुक्ति दे दी।

गीता के भीतर कुछ बरस रहा था। उसी तरह वह पार्टी मे पहुँची। गार्डन पार्टी थी।

कुर्सी पर बैठते-बैठते देवन ने धीरे से कहा, “गीता। . . . . . ओम और चित्रा भी है।”

“तो क्या, देवन और गीता भी तो है !”

गीता के स्वर मे नया, बिल्कुल मौलिक पर अत्यन्त सहज गर्व था, जो आत्मविश्वास से आया था। ओम और चित्रा उनसे दूर, पर बिल्कुल सामने बैठे थे। बीच मे खाने-पीने के सामान से पटी हुई दो गोल मेजे थी।

देवन-गीता सामने से विरक्त, निस्पृह थे, फिर भी सामने देखते थे। वह दृष्टि-दोष था। ईश्वर ने आँखे ही ऐसे स्थान पर जड दी है—कोई क्या करे।

गीता डट कर सामने देखती थी; पर उसकी दृष्टि मे कुछ और न आता था, जो उसके भीतर अभी बरस चुका था, वही अब बूद-बूद उस की आँखो मे टपक रहा था। देवन न देखते हुए भी देख रहा था—चित्रा फूलदार चिऊन साड़ी मे थी, जिसकी संगति मे पीली, परपिल-चोली थी। ओम अपने आस-पास के लोगों में हँस रहा है। चित्रा चुप, उदास बैठी है।

न जाने क्यों गीता को हँसी आ गयी। देवन भी हँस आया। पर हँस कर उसका मन मुरझा गया। एक मूक झुझलाहट उसमे फैली, जिसमे मूक स्वर भी थे—अरी, ओ चित्रा, औरत की दुम, इस तरह उदास तू क्यों बैठी है? हँसती क्यों नहीं, ओम मर गया है क्या, वह तो हँस रहा है, तुझे क्या हुआ, निरीह सर्पिणी, मोहक, वेध्य ?

इससे पहले भी न जाने कितनी बार, उत्सव, पार्टी और आयोजनों में गीता, देवन तथा चित्रा ओम की निस्सग भेंट हुई थी। पर ऐसी अवश भुल्लाहट, असम्बद्ध रह कर भी ऐसी सम्बद्ध-सी प्रतिक्रिया देवन में कभी न हुई थी।

देवन वहाँ से उठा, किनारे; बिल्कुल दूसरी तरफ जा बैठा। वहाँ भी न तबीयत जमी। तब तक लोग मेजों के चारों ओर इकट्ठे होने लगे।

गीता-देवन, उसमें सम्मिलित न हो सके, अतिथेय से आँख बचाकर दोनों सड़क पर चले आये।

तब देवन अपने से पीस कर बोला—“क्या है, कुछ नहीं।”

गीता जग-सी गयी, “क्या, मुझे भी बताओ देवन !”

“क्या ?” देवन जैसे सहसा वह कड़ी ही भूल गया जिसे लिये वह मथ रहा था। वह नये सिरे से मुस्कराया, और उस से गीता में उसने मुस्कराहट भर दी। गीता फिर भी जिज्ञासु थी।

भट देवन ने एक और बात पकड़ ली, भरे स्वर से बोला, “आज के मनुष्य की कोई सम्पूर्ण इकाई नहीं है, ऊपर से वह जरूर एक शरीरवाला दीखता है लेकिन भीतर से वह टुकड़ों में बँटा है।”

कुछ देर तक गीता थाह लगाती रही कि देवन ने क्या कहा, या क्या कहना चाहता है, उसके प्रसंग का प्रयोजन क्या है ?

तब तक देवन फिर बोला—“मुझे लगता है गीता, कि मनुष्य के भीतर भी मनुष्य है—एक-दो नहीं, अनेक—और अनेक—विभिन्न वृत्तियों के।”

देवन आगे शायद कुछ और कहता, कहने जा रहा था, पर सहज भाव से गीता बोली, जैसे उस बीच उसने सब समझ लिया हो, “धर्म ही उनमें समन्वय देता है।”

“पता नहीं, तुम धर्म की मान्यताओं में पली हो, मैं तो नहीं—खैर हटाओ। कहाँ से कहाँ हम लोग ब्रभ गये।”

देवन ने बहुत भटके के साथ कहा, जैसे वह कही जा फँसा था और

ध्यान आते ही उसने पुराने कपड़े की भाँति उसे अभी-अभी चीर कर दूर फेक दिया हो ।

उसने गीता को धीरे से कमर में गुदगुदा दिया और दोनों खिल गये ।

निर्लक्ष्य दोनों हजरतगंज घूमने लगे । न जाने क्यों देवन के पाँव 'फैशन इम्पोरियम' में गये । दो फूलदार चिफन साडियाँ खरीदी गयी, एक चित्रा जैसी, दूसरी उससे भी खूब ।

जब घर लौटे, तो दस बज गये थे । आया प्रतीक्षा में बैठी थी । देखती ही बोली, "बहू जी, आज गुरुवार है न ।"

गीता से कुछ बोला न गया, कमरे में दौड़ी, आटे की लोई में घी का दीपक जलाकर उसने तुलसी को पूजा । उसी साड़ी में, उसी मेकअप में वह थी, पर उस समय वह, उस सीमा को भूल कर अपने मूल स्वत्व में आ गयी थी । हाथ श्रद्धा में जुड़े थे, आँखें प्रणति में डूबी थीं, चित्त एकाग्र था और पता नहीं वह अस्फुट स्वर में क्या कह रही थी ।

शाम की डाक में गीता के नाम दो पत्र आये थे—एक बनारस से बीरू का भेजा हुआ, दूसरा शकुन जिया का । बीरू ने बड़ी शरारत की थी । निडर-बदमाश कही का । लिखा था, खूब खा-खाकर पेट फुला लिया होगा, मुझे क्यों याद करोगी । लखनऊ क्या पहुँची, लाट बन गयी, फिर कर बनारस आने का नाम तक नहीं लिया—कलजुग है न ! प्रणाम तो बड़े तपाक से ले लोगी, अच्छा ले लो । हाँ, यह भी सुनो । कल तुम्हारी याद आ रही थी । ऊपर तुम्हारे कमरे में गया, वहाँ बैठे-बैठे अपनी दो किताबें फाड़ डाली, चुगली न करना किसी से हों, नहीं तो ! कब तक आओगी ? जल्द नहीं आओगी तो जाओ मैं कहे देता हूँ—तुम्हें बेटी ही होगी और खूब सतायेगी, हाँ ।



चाय पर बैठे दोनों हँस रहे थे। उसी बीच मिसेज सिंह की नर्स—  
अर्थी आयी। विनय से देवन के हाथ में एक चिट दे गयी।

चाय छोड़ देवन नीचे उतरा। मिसेज सिंह खाली बैठी थीं। उन्हें  
देवन से यह मालूम करना था कि चित्रा और वह इस तरह अलग क्यों हो  
गये? बात क्या हुई?

देवन को कुछ बताना पड़ा, पर उन्हें समझा न सका। जान छुड़ाकर  
भागना चाहा, तो वह चिपकी हुई ऊपर तक चली आयी। चाय की मेज  
पर बैठ गयी। चाय हुई, फिर गीता के महीने, दिन और स्थिति आदि पर  
उलझी रही।

भगी तब, जब आँगन में एकाएक मिसेज घोष आ धमकी। कुछ  
बोली नहीं, पर चेहरे से लगा, जैसे वह मिसेज सिंह को देख कर विष का  
घूट पीकर रह गयी।

गीता को लिये तुरन्त अपने यहाँ लौटी, और अधिकार-स्वर में बोलीं,  
“तुम्हारे यहाँ मिसेज सिंह कैसे आयी थी?”

गीता को बोलने का अवसर न दिया, बोलती गयी—“खबरदार,  
अब जो वह ऊपर आयी! तुम पर उसकी साया न पड़ने पाये—  
बड़ी विषाक्त है। उस की दसो अगुलियाँ न जाने कितने पापो में  
डूबी हुई है। मुख पर अबोध हत्याओं की छाप है।..... पता  
है तुम्हें, यह किस व्याधि की डाक्टरनी है, गर्भपात और भ्रूण-हत्या की।  
मुई जादूगरनी है, पेट पर हाथ रखा नहीं कि, बस।..... आज बता  
रही हूँ, इसे तो मैंने एक बार गिराकर मारा था। मुझे क्या पता था कि  
यह डायन है। मैं सोयी थी, यह घोष बाबू के साथ आयी, बस कुछ हुआ,  
कुछ टटोला, मुझे क्या ज्ञान! अरे बाबा! उसी रात मेरा सर्वनाश हो  
गया। उस हत्या का पाप मैं आज तक ढो रही हूँ। यह ससुरी व्याख्यान देती  
फिरती है कि दुनियाँ के सारे सकटों की जड़ सन्तानोत्पत्ति है। उसी का  
कलेजा है, पूछे जा कर कोई, फिर क्यों पाँच मर्द किया?”

गीता की आँखों में घूरती रही।

फिर आवेश में बोली, “वह भयानक पाप ऐसी ही औरते बो रही हैं जो प्रकृति से भी विश्वासघात करता घूम रहा है। प्रकृति से विरुद्ध चले, चलें न, एक दिन घोट कर पी लेगी, हॉ !”

गीता रोने तक आ गयी थी। उस से कुछ न बोला गया। एक-एक शब्द को उसने ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया। बँगाली माँ के प्रति उसका कातर मन कृतज्ञता से भर गया।

भरी-सी लौटी। देवन खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था। यहाँ भी कुछ न बोल सकी। बस, देवन के कंधे से लग गयी और उसी तरह धीरे-धीरे उसने देवन को सब बता दिया।

देवन को कुछ भी न लगा, बस हँसी लगी। वह भी बहुत ही भूठी-सक्षिप्त-सी।

गीता टहलने न जा सकी। बैठी आया से बातें करती रही। पर जब, मन बातों से भी न भरा, तब एकाएक वह एक सकल्प कर बैठी।

अपने कमरे के दाये कोने को साफ किया, चार किताबों को रेशमी कपड़े से ढँक कर उसे छोटी-सी वेदी बना ली। उस पर एक ओर रामायण रखा, दूसरी ओर सत्यार्थ प्रकाश और दोनों के बीच में देवन का एक चित्र। घी का एक चिराग जलाया और बड़ी देर तक निस्पन्द मौन, आँखें मूढ़े बैठी रही। बीच में एक बार उठी भी तो कागज का एक पृष्ठ और पेन लिये फिर जा बैठी—पृष्ठ पर लिखा—राम, शक्ति, दुर्गा, सरस्वती, गंगा, पार्वती। मध्य में कोरा छोड़कर नीचे लिखने लगी—मैं वह बाँसुरी हूँ—जो युगों से देवन के ही ओठों पर बजती आयी हूँ, नहीं तो हम मिलते ही क्यों ! मैं कोमल हूँ, पर निर्बल नहीं; श्रियुत हूँ—देवन हूँ।

कमरे का बल्ब जलाया, और दीपक को उसी तरह जलते रहने दिया। जब बुझ गया, तब गीता ने उस मन्दिर को सावधानी से ढँक दिया।

देवन बहुत दिनों के बाद ‘विलियर्ड’ खेल कर लौटा था। ‘ब्रिज’ और ‘फ्लाश’ का नाम तो देवन के मुह से गीता ने बहुत सुना था, पर विलियर्ड का नाम पहली बार सुना था।

देवन ने उसे बताया—वह खेल-तमाशा दोनों हैं। चित्रा इसे भी खेल लेती थी, वह बातों-बातों में बक गया। पर ध्यान करके अपने-आप में झुझला भी गया।

देवन से अपने मन्दिर की बात गीता ने न की; एक दो दिन नहीं, हफ्तों तक। एक दिन उसने स्वयं देख लिया, जब वे दोनों सोने जा रहे थे।

देवन को अच्छा लगा। उसे बताया न गया था, यह उसे और भी अच्छा लगा। उस दिन मन्दिर के पास गीता का बजा हुआ सितार भी रक्खा। तार ढीले न किये गये थे।

देवन बोला, “मैंने तुम्हारा मन्दिर देख लिया! बहुत अच्छा है!” भरी हुई आँखों से गीता उसे देखती रही। सारा मुख हँसता रहा, धीरे से बोली, “बहुत अच्छा है!....उसमें तुम जो हो!”

...असगत। देवन चुप हो गया—बड़ी देर तक चुप रहा, सन्नाटे की साँस भरता रहा। सर ढक लिया, अस्पष्ट से दो चित्र उस में घूमते रहे, चित्रों में वाणी थी। एक कहता था, गीता वही है, जहाँ से चली थी, वह चलना चाहती है, आगे बढ़ती है, पर न जाने क्यों वही रह जाती है—सुन्दर, सौम्य अबोध। दूसरा कहता था, नहीं, गीता देवन के साथ आगे बढ़ चली है—बढ़ती चल रही है—उसके नये कपड़े-पहनावे, मेक-अप, व्यवहार और नये विश्वासों के रंग। उसका सितार कहता है, देवन जो चाहेगा गीता वही हो जायगी—देवन उसका जीव्य है—निर्बल, अपूर्ण दीन, आकर्षक।

धीरे-धीरे वे दोनों चित्र एक दूसरे में मिल गये, मिलकर एक नया चित्र बन गये—बहुत ही स्पष्ट-चटक-रगदार। लेकिन उस में वाणी न थी—चित्र गूंगा था।

गूंगा चित्र कुछ बोलने के लिये छटपटाने लगा। और देवन को लगा, जैसे उसका दम घुट जायगा।

उसने तेजी से मुंह खोला, बड़ी लम्बी-सी साँस ली ।

कातर स्वर में बोला, “लाख वार मैं ने समझाया कि तुम मुझे ईश्वर बनाकर मन्दिर में न बैठाओ, आदमी की तरह साँस लेने दो । तुम मुझे आदमी समझने से भागती क्यों हो ? शायद इसलिये कि आदमी कटु यथार्थ है । वह बहुत कुछ चाहता है ! विरोध करता है !”

कहते-कहते देवन ढीला हो गया । गीता पर अजीब प्रतिक्रिया हुई । वह बेहद खुश थी । देवन का ऐसा स्वर गीता के लिये अति नवीन था, पहला था और सब से अधिक मोहक था । उन शब्दों ने जैसे गीता को बाँध लिया ।

वह मुस्करा आयी, बोली नहीं, भर गयी थी । उठी, कोने के मन्दिर को खोला, देवन का चित्र लिये लौटी ।

“देखो अपना चित्र, तुम्हीं नहीं हो ?” गीता ने प्यार से कहा ।

बिना देखे उसने चित्र को झटके से छीन लिया और उसे फर्श पर दे मारा ।

“मैं तुमसे अपनी पूजा नहीं चाहता । . . . . पूजा वह करता है जो दया का पात्र हो, मैं तुम्हें दया नहीं दे सकता ।”

“प्रेम तो दे सकते हो !” गीता का स्वर भीगा आया था ।

“वह भी दिया नहीं जाता, लिया जाता है ।” कहते-कहते देवन का स्वर बीच ही में टूट गया; जैसे वह कुछ भूल गया, फिर नयी शक्ति से बोला, “मैं प्रेम-श्रेम कुछ नहीं जानता, सब झूठ—बकवास है ।”

देवन करवट बदल कर चुप हो गया । सोये-सोये उसने एक सिगरेट जलायी, लम्बी-लम्बी कस लेने लगा । गीता प्रतीक्षा में थी कि अभी देवन कुछ और बोलेगा । वह अन्तर से चाहती थी कि देवन और खुले, पूरा खुल जाय । उसके भाग जगे है कि देवन भागता, बचाता-बचाता आज पहली बार इस रूप में आया है । जैसे अन्धकार ने कली की गाँठ बाँध रखी हो, और रोशनी ने उसे खोल कर फूल बना दिया हो ।

देवन शान्त-निस्पन्द पड़ा रहा, जैसे न जाने कब का बादलों से

धिरा हुआ आसमान बरस कर चुप हो गया हो। वह कुछ न बोला, सोया रहा। हार कर गीता ने जगाया, “नीद आ रही है ?”

“क्यों ?” उसकी पलके भीग आयी, “सो जाओ।”

गीता शिशुवत बोली, “बस, अब और नहीं डांटोगे ! जाओ, तुम तो मुझे कभी डांटते ही नहीं !”

वह मौन था। बायाँ हाथ उठाकर उसने गीता को बाँध लिया और पार्श्व में सुला लिया। दोनों एक दूसरे की आँखों में देखने लगे। एक ओर अनेक प्रश्न थे, दूसरी ओर उतने ही उत्तर।

गीता दुलार से बोली, “तुम तो मुझे कभी डांटते ही नहीं, इसी तरह मुझे खूब डांटो-फटकारो न ! तुम तो न जाने क्यों सकोच करते हो ! .....वस्तु को इच्छित रूप देने के पूर्व उसे तपाया जाता है, फिर उसे पीटा-काटा और तराशा जाता है।”

देवन मुस्कराया-मुस्कराता रहा।

अब गीता को बरसना था, “मैंने तुम्हें पहले बता दिया है। मैं जिन स्थितियों और सस्कारों में पली हूँ, वे आज के लिये पूरे नहीं पड़ते। वे कुछ और बनाते हैं, आज कुछ और चाहता है। मैं भावों में पली हूँ, यही मेरा अभाव है।”

तेजी से उठकर देवन का बायाँ हाथ गीता के ओठों पर जा रुका। वह मुस्करा आया। गीता उदास-सी रही।

तब देवन ने कहा, “सभी अभाव में पलते हैं, कोई धन और भोग के अभाव में, तो कोई प्रेम, विश्वास और आदर्शों के अभाव में; किसी न किसी अभाव में सभी पलते हैं; सभी वे जीते हैं, पर अभावों को भोगने के लिये नहीं, वह असंभव है। बस इसलिये, कि उसके प्रति मोह है।”

आगे कोई न बोला। जैसे दोनों कुछ सुनने लगे हो, वह कुछ जिस की अभिव्यक्ति में वाणी नहीं आती, स्वाँस आते हैं।

बन्द पलकों के भीतर उन की आँखें खुली थी। उन पर कुछ हो रहा

था, और वे भीगने जा रहे थे—एक ही आकाश के तले, एक ही हवा के झोके में ।

एक समझ रहा था कि दूसरा सो चुका । पर कुछ देर के बाद उन की मोटी साँसो ने जान ली, कि दोनो जग रहे हैं ।

देवन बोला, “क्या आने वाला है ?” एक क्षण तो गीता उसी तरह पड़ी रही, पर लाज भरी मुस्कान से उस का सारा मुख रँग उठा, फिर उसकी पलके अपने-आप खुल गयी ।

तब तक देवन ने गुदगुदा दिया, “बताओ न, कौन है ?”

“तुम बताओ !”

“नही तुम !”

“पुरुष ।”

“नही, स्त्री !”

दोनों हँस आये, साथ ही साथ भर भी गये, जिस की गहनता उन की आँखों में उतर आयी । फिर धीरे-धीरे सच्ची रात हो आयी—वह सच्ची रात, जो अपने अक में शान्ति की नीद लाती है, थकान, द्वन्द्व, और उलझनों के ऊपर माँ की लोरियाँ बिखेर देती है ।

उस चित्र से क्या, जो कागज का होता है, जिस पर शीशा जड़ा होता है, असली चित्र तो उनका मेरे भीतर है, जो अलक्ष्य है, अभेद्य है । और मन्दिर से क्या ? जहाँ वह चित्र; वही मन्दिर ।

गीता सोचती रही, और अपने कोने के मन्दिर को तोड़ कर उसे अपने भीतर जोड़ती गयी ।

जहाँ देवन, वही गीता ।

और जहाँ मिसेज सिंह ? और उसी तरह असख्य ?

वहाँ भी गीता, डर किस बात का । भिन्नक क्यों ? और विकास होता क्या है ? क्या चाहता है देवन—मुझ से कोई उत्सर्ग-बलिदान नहीं चाहता । वह तो उल्टे मुझे देता है, दिया भी है । आज तक मागा तो कुछ नहीं—कहाँ मागा ! सोचो न !

देवन तो मेरा पूरक है, नियन्ता है ।

उस दिन गीता का मन बहुत ही हल्का और साफ था । अपने में एक अजीब-सा नया बल पा रही थी । उसका घर भरा-भरा-सा लग रहा था, जैसे उस के चारों ओर उस का अपना सुखी परिवार है ।

घर में, दिन भर जहाँ-जहाँ वह डोलती रही, उल्लास से उसका मन अनेक रंगीन रेखाओं में बँधता रहा । मेरा देवन भी कैसा है ! कभी कहता है, गीता तुम में अनुपम विकास है । कभी-कभी वह मुझे अनुपम के नाम से पुकारता है और हूँतो यही सजा चलती रहती है । कभी कहता है, गीता और तेज चलो, अभी आगे बहुत है । कहता है, तुम में और कुछ नहीं अपेक्षित है, पूर्ण हो तुम, मुझे और कुछ नहीं चाहिये—जैसी हो, वैसी ही तुम बनी रहो । कभी जैसे वह अपने को मथने लगता है, अवश उस में कुछ सुलग उठता है, तब जैसे वह कुछ तोड़ कर भाग निकलता है और उस पर साफ खिच उठता है—कुछ नहीं, कुछ नहीं । यह सब क्या है—कुछ तो नहीं । गीता निर्णय पा लेती, यह सब मेरे देवन का विनोद है । मुझ से खेलने के लिये सब करता है—इस के पीछे कोई गाँठ या कुंठा नहीं है, सहज उल्लास है सब ।

सन्ध्या का समय था । देवन घर पर न था । गीता आँगन में घूमती हुई कुछ पढ़ रही थी । जीने के नीचे से मिसेस सिंह की कई आवाजें आयी । तीव्र इच्छा करती हुई भी गीता उन पुकारों के उत्तर में न बोल ही सकी, न जीने पर भोंक ही सकी ।

चुप, आया के पास जा खड़ी रही ।

एकाएक जीने पर एक ही साथ चढ़ने और उतरने की आवाजें हुईं । पर क्षण ही भर में दोनों आवाजें टूट भी गयी ।

“ऊपर कहाँ ?” मिसेज घोष के स्वर थे ।

“मिस्टर देवेन्द्र से काम है, तुम से क्या ?” मिसेज सिंह की वावाण उभरी ।

“मैंने कई बार समझा दिया है, कि तुम इस जीने पर न पैर रखा करो । देवन की बहू के पैर भारी है, और वह सीधी बहुत है ।”

“क्या बक रही है आप ?”

“सत्य ।”

आगे कोई आवाज न उभरी । मिसेज सिंह उल्टे मुह लौट गयी । माँ जी ऊपर आयी—गीता के ऑगन में आ खड़ी हुई ।

आज्ञा देती-सी बोली, “बहू ! जीने का दरवाजा बन्द रखा करो ! क्या आवश्यकता इसे खोल रखने में । बन्द करके रहना चाहिये ।

कह कर उसी क्षण चली गयी । कृतज्ञता-भाव से गीता झुकी-सी रह गयी । उस से कुछ न बोला गया ।

बन्द घर, बन्द आदमी । और उस के सब कुछ बन्दी, भाव मान्य-ताये-आदर्श सब कुछ । खुला क्या है, खुला होना क्या चाहिये ? शरीर, वह भी उस के कुछ ही अवयव । उन्हीं को श्रृंगार चाहिये, उन्हीं को सूर्य का प्रकाश और खुली हवा चाहिये । तब उन्हीं कुछ अवयवों का विकास होगा और वे सब धीरे-धीरे मर जायेंगे, जो बन्दी हैं, अप्रयुक्त हैं और अन्धकार में छोड़ दिये गये हैं ।



ज्यो-ज्यो प्रसव के दिन समीप आते गये, दोनो अनुभव करते चल रहे थे, कि न जाने क्या आकर्षण, कोई नूतन शक्ति उन्हें अब और बाँधती चल रही है ।

पता नहीं, वह कोई मोह था, या मानवीय धर्म ।

अपने मे गीता, देवन को पूरा पा गयी थी । शायद वह, वही था जो देवन अब गीता मे पा रहा था । आदमी किसी -न-किसी रूप मे अपने अह और निजत्व को पूजता है, और उसी मे वह अपने को बाँधता भी चलता है ।

यहाँ पहुँचकर दोनो को लगा, कि पहले वे दोनों पास थे, अब मिल गये हैं ।

और इस की चरम सीमा उन्हें उस दिन मिली, जब गीता पुत्रवती हुई । पन्द्रह दिन पहले से वह अस्तपताल के 'स्पेशल वार्ड' में रहने लगी थी । चौबीस घंटे एक नर्स खड़ी मिलती थी । देवन सिपाही बना घूमता था । बनारस से दो बार पापा और

माता जी का चक्कर लगा था। शीतलराय और आर्यादादा तो नित्य आ बैठते थे।

आया हुआ शिशु बहुत ही स्वस्थ-सलोना था। गोद में उठाते हुये एक सिस्टर ने कहा था—‘प्रेसोस-डॉल’ तब गीता ने जैसे अपने स्वर में फौरन विरोध किया था—‘मेरा तो यही स्वप्न है।’

अस्पताल में जब गीता का वजन पूरा हो गया, तब वह अपने घर आयी। तभी से देवन आफिस भी जाने लगा, पर दिन में तीन बार घर आता था।

माताजी, वच्चे को ‘रघुनाथ’ की सजा दे गयी थी। दिल्ली से शकुन जिया ने उसके लिये कपडों का एक पार्सल भेजा था, और सब पर लाल रेशम से लिखा था—‘पप्पू।’

उन्ही दिनों, बनारस से वीरू भी आया। शरम-सकोच से बेचारा गड़ा जा रहा था—उसने कहा था ‘जाओ तुम्हें लडकी ही होगी’—पर हुआ लडका। वीरू ने कहा था, ‘जिया इसका नाम चुक्खू रखना, यह जब दूध पीता है तो इसके मुंह से इसी तरह की आवाज निकलती है।’

फिर एक दावत देने की सोची गयी। पालने पर देवन का बेबी हाथ-पैर मार रहा था। उसे निहारती हुई पास गीता बैठी थी। देवन मेज पर झुका हुआ बुलाये जाने वालों की एक सूची तैयार कर रहा था।

उसके हाथों से, सूची में बार-बार ओम और चित्रा के नाम लिख उठते थे। वह उन्हें काट कर जब आगे के नाम सोचने लगता था, तब वह सोचते-सोचते ही भूल जाता, और निष्क्रिय-सा रह जाता। कुछ धुंधला, कुछ मिटाया-मिटायी-सा, पर कुछ बहुत ही मूर्त-रगीन-सा चित्र, बार-बार देवन में उतर जाता था, पर जब वह उससे गायब होने लगता, तब उसका मन अपनी ही वाणी में पुकार उठता था—‘यार, आबो कहाँ जा रहे हो, आज साथ-साथ तो पीलें, मजा तो तुम्हारे साथ में है, पीने में क्या? मेरी जिन्दगी में आज एक

बड़ी ही पवित्र-नयी-सी खुशी आयी है, तुम भी आ जाओ। हम एक-दूसरे को माफ करे, और फिर से साथ-साथ हो ले।

एकाएक बच्चा रो उठा। देवन उठा, गीता के सामने उसने फिहरिस्त रख दी। स्वयं वह नहाने चला गया। कपड़े पहन कर जब लौटा, तो बस पिघल कर रह गया। सूची का वह भाग जहाँ देवन ने बहुत काट-पीट रखा था, उसी के सामने ही गीता के अक्षरो में लिखा था—श्रीमती चित्रा और श्री ओम प्रकाश।

शाम को देवन का चपरासी ओम के घर गया। सयोग से दोनों बैठे चाय पी रहे थे। दोनों ने एक-एक करके देवन का निमंत्रण पढा, फिर जोर-जोर से पढकर ओम ने उसे दुहराया।

चित्रा और लोगों के नाम पढने लगी। ओम कुछ क्षण चुप रहा, फिर चपरासी को समझाते हुए बोला—“जाकर अपने सरकार से कह देना, मुझे कोई साधू-फकीर समझ रखा है, कि मैं न्यौते पर आकर उन्हें पुण्यात्मा सिद्ध करूँ ?”

चित्रा ने विरोध किया, “क्या बक रहे हो ?”

पर ओम ने उसे सुना ही नहीं, वह उसी गभीरता में बकता गया—“बहुरानी से कहना, क्यों नहीं इस शुभ अवसर पर कोई अनाथालय खुलवा देती। बड़ा पवित्र कार्य होगा। उस में पतिता-आश्रय हीन स्त्रियाँ और अनाथ बच्चे पलेगे। इस लोक में यश-कीर्ति फैलेगी और उस लोक में स्वर्ग; समझे न, कह देना रानीबहू से !”

चपरासी लौट गया। ओम भरा बैठा रहा। चित्रा बेहद उदास हो आयी थी। वह कुछ बोलना चाहती थी, लेकिन कठ इतना तप्त और भरा-भरा-सा था कि भीतर के शब्द उस से आगे ही न बढ पाते थे।

ओम ही बोला, “जो अलग हो गये, वे अलग ही रहे, यह क्या है औरतो की-सी आदत ?”

सूनी दृष्टि से चित्रा उसे तकती रही। जैसे वह कुछ बहुत सार की बात कह रही हो, जो आँखों से ही कही जाती है।

तब चित्रा बोली, “जो अलग हुआ था, वही तो मिलना चाहता है, इसमें हमारी क्या हार है !” कुछ क्षणों के बाद फिर बोली, “फिर आज किसी अपने मित्र से भाव-वश कुछ हो जाय तो उसका पिछला क्यों भुलाया जाय ?”

“तुम मत भूलो ! मुझे शिक्षा नहीं चाहिये !”

ओम ने स्वर को दबाते हुये कहा। चित्रा ने सहज स्वर में कहा, “डियर, बड़े तोताचश्म हो तुम !”

“और सख्त भी हूँ ।”

चित्रा चुप-मौन जैसे उसकी सख्ती को तोलती रही, बोली, “पर वह देवन-मीता की दावत कहाँ है, वह तो उस बेबी का है, जिसे कुछ भी पता नहीं है,” रुक कर अपने-आप में जैसे वह गूज उठी, “सफ़र लिटिल चिल्डर्न टू कॅम अटू मी, एण्ड फॉर विड द्म नॉट, फॉर ऑफ सच इज द किंगडम ऑफ गॉड ।”

ओम ने नयी सिगरेट जला ली। धुएँ के बीच से बोला,

“तो उस बच्चे से तुम्हे मोह है। और तुम वहाँ जाना भी चाहोगी।”

“चाहती तो यह हूँ कि तुम भी चलो ।”

“पर मैं नहीं चाहता !”

चित्रा से वहाँ रुका न गया वह बिना कुछ बोले कमरे से निकली और प्लार्सर में आ खड़ी हुई। ओम की आवाज वहाँ भी आयी, “कब से बेबी पसन्द आने लगे ?”

चित्रा कुछ न बोली, जैसे पी गयी। तब वह पास चला आया और उसने फिर दुहराया, “कब से बेबी पसन्द आने लगे ?”

आरक्त होकर चित्रा बोली, “औरत को सदा बेबी पसन्द आयेंगे” दस व्यक्ति आमन्त्रित थे, जिनमें से नौ आये थे। उस बीच अकेली चित्रा भी थी।

ओम कार से उसे छोड़ कर स्वय क्लब चला गया था । चपरासी ने ओम की सारी बात उनसे कह दी थी, पर चित्रा को उस समारोह में पाकर जैसे उनका सब कुछ विनोद में घुल गया ।

ओम नहीं आया, गीता को बहुत अच्छा न लगा, अकेली चित्रा आयी, यह बहुत देवन को न भाया । पर यह सब, जैसे उस शिशु को बहुत अच्छा लगा । चित्रा उसके लिये अग्रेजी-खिलौने ले आयी थी । उसे गोद में लेकर उसने कहा था—“ब्लेल्ड ! दियर इजए हेविन !”

चित्रा जब से गयी थी, उसने गीता से अपने को बाँध रखा था । और देवन ?

वह कहता रहा, अपने को जैसे बचाता-धूमता रहा । कुछ सम्मम, कुछ उदासीनता और आसक्ति—यह सब पूरे के अर्द्ध भाग में था—शेष में केवल शून्य था—बहुत बड़ा शून्य, जिसके भीतर न राग था न द्वेष । पर कुछ अवश्य था, क्योंकि उसका एक रूप था, रूप के प्रति अनुभाव थे ।

जब सब अतिथि चले गये और वहाँ केवल देवन गीता और वह दुधमुहों शिशु रह गया, तब जैसे उस घर में चारों ओर चित्रा ही चित्रा रह गयी ।

चित्रा अभी न जा सकी थी । ओम तब तक क्लब से लौटा ही न था ।

तब देवन, चित्रा के पास आ बैठा । पर बीच में उसने चाय मँगवा ली । चाय स्वय बनाकर अपने अतिथि को दी । दोनों चुपचाप चाय पीने लगे, और ऊपर से चारों ओर सन्नाटा बरसने लगा । बेबी सो गया था ।

गीता प्यार से बोली, “कुछ बातें करो न !...समय तो बीतेगा !”

“समय कहाँ बीतता है, बीतते तो हम हैं ।” चित्रा ने उदासी से कहा

देवन की इच्छा हुई, वह चित्रा को बुरी तरह गुदगुदा दे, सर से पाँव तक उस में हँसी बिखेर दे। चिल्लाकर कहे, विरागी की भ्रांति मत बोलो ! गाओ, हँसो, भोगो !

थक कर गीता फिर बोली, “कुछ बाते करो न ।”

आशा से गीता दोनों की ओर निहारती रही। पर चाय के प्याले तो उनके ओठों से अलग ही न हो रहे थे, जैसे उनके कंठ सूखते जा रहे हो।

गीता ही बोली, “सितार तो आप बहुत अच्छा बजाती होगी।

चित्रा ने सर हिलाया, उधर कप खाली हो गया। देवन ने उसे फिर भर दिया। वह जैसे चाहता था, गीता चित्रा से बातें करती रहे और वह चुप सुनता रहे, न चाय ठंडी हो, न उसे बोलना पड़े।

गीता ने कहा, “मैंने सितार सीखा है !”

उसी समय नीचे से हार्न की आवाज आयी। चित्रा उठी, देवन-गीता उसे कार तक छोड़ने गये। ओम पीछे जा बैठा था। भीतर कार की रोशनी भी बुझी थी। अन्धकार में बैठा वह सिगरेट फूक रहा था। बिना किसी प्रतिक्रिया के, चित्रा ड्राइव करने बैठ गयी। कार चलने को हुई। पिछले दरवाजे की ओर बढ़कर, विनय से गीता ने ओम को नमस्ते कहा। ओम हिला, उसके हाथ बँधे, पर उसकी वाणी न हिली।

देवन-चित्रा निष्क्रिय रहे, उनके न हाथ हिले, न वाणी हिली। पर कार में एकाएक गति हुई, तब देवन के हाथ अपने-आप में बहुत तेजी से बँधे, बँधे ही रहे और कार चली गयी।

गीता ने पलँग से उठते ही देखा, आया सुबह ही सुबह तुलसी का एक नया बिरवा लिये आयी थी। गीता कुछ समझ न सकी। आँगन में आती हुई बोली, “आया, कितने पौदे लगाओगी ?”

आया ने बताया, “बहू जी ! पुराना वाला तो न जाने क्यों कुम्हला गया !”

गीता हैरान रह गयी। पास जाकर उसने देखा, सच, तुलसी का पौदा कुम्हला गया था। हवा-पानी मिट्टी आदि का उसे किसी तरह का भी अभाव न था।

गीता को ध्यान आया। जब वह अस्पताल चली गयी थी, उस समय पौदे को कुछ अभाव हुआ होगा। पर यह पौदा तो जगली है, सूखी-सी सूखी मिट्टी पर हरा रह लेता है। जरूर इसकी जड़ में कोई कीड़ा लग गया होगा। पर कीड़ा आया कैसे होगा ? बन गया होगा। और कीड़े हैं कहाँ नहीं ? सर्वत्र तो हैं। ओ हो ! गमले की पेदी में तो सूराख बना ही रहता है। तब तो बाहर से इसी रास्ते कोई जहरीला कीड़ा घुसा होगा।

गीता ने पौदे की मिट्टी खोदनी शुरू की। गमला खाली होता गया। पौदे की सब जड़ें वदस्तूर थी। किसी में भी न कोई घाव था, न कटन, न सड़न, और न पूरे गमले में कोई कीड़ा ही था। पर न जाने क्यों, कैसे, बेचारा तुलसी का बिरवा मुर्झा गया था।

उसे थोड़ी पीडा हुई। पर आया कितनी अच्छी थी, वह दूसरा बिरवा ले आयी है।

अपने हाथों गीता दूसरा पौदा लगा रही थी। उसी समय देवन सोकर उठा और वही से चाय के लिये आवाज दी। जब तक वह ‘वेड्टी’ लेकर आँगन में आया, पौदा गमले में लग चुका था, और गीता बैठी हाथ धो रही थी। देवन स्नेह से बोला, “सुबह ही सुबह, हाथ-पाँव पानी में डुबो लेती हो, बेबी ठंड नहीं खा जायगा ? आया से क्यों नहीं करा लेती ?

गीता सब मुस्कराहट में टाल गयी।

देवन सिगरेट पीता हुआ खड़ा रहा। मन में एक बात आयी, गीता के पास आकर बोला, “क्यों, एक बात बताओगी। फर्ज करो, अगर हमें ओम-चित्रा अपने घर आमंत्रित करते हैं, तो क्या करोगी ?”

“हम दोनों चलेंगे ।”

“क्यों ?—मैं तो नहीं जाऊँगा ।” देवन ने कहा, “ओम ने चपरासी से क्या कहलवा भेजा था, याद है ?”

“ऐसी चीजों को मैं भूल जाती हूँ, और चित्रा तो आयी थी न ! अब तो मुझे और भी भूल जायेगा ।”

देवन चुप रह गया और तब तक चुप रहा, जब तक गीता ने उसे बोलने के लिये बिबश न कर दिया ।

देवन ने पूछा, “तो फिर चाहोगी कि हमारा उन से सम्बन्ध हो जाये ?”

गीता को कुछ न सूझा । वह डोल गयी वहाँ से । कुछ देर के बाद वह फिर देवन के सामने आयी । वह आफिस जाने की तैयारी में था ।

उसने फिर पूछा, “सोचा कुछ ?”

गीता मुस्करायी, मुस्कराती रही, उसी में बोली, “कल्पना करके क्या सोचना ! कुछ सच तो हो, पहले चित्रा को कोई संतान हो, फिर वे हमें दावत दे, तब सोचा जायगा ।”

“और वैसे ही दावत दे तो ?”

देवन के प्रश्न ने गीता को सहसा दूसरा प्रश्न दिया, “चित्रा जल्दी माँ नहीं होगी क्या ?”

देवन के पैर के तलवे भीग आये । एक ऐसी झुझलाहट उस में उठी कि वह एक ही साथ अपने को, गीता को और चित्रा को जी भर कर पीटे और तब पूछे—बोलती क्यों नहीं, क्या मैं चित्रा का पति या लेडी डाक्टर हूँ जो यह जानता फिरो, कि चित्रा जल्दी माँ होगी या देर में, या होगी नहीं । अजीब वे सर-पैर की बात है । इस तरह भी कोई सवाल करता है ।

बिना कुछ कहे, वह आफिस चला गया । पूरे हफ्ते तक आता-जाता रहा और उसका मन किसी-न-किसी समय रोज बुनता रहा, कि उन से हमारा सम्बन्ध हो जाय ! गीता चाहती है या नहीं । देवन स्वयं चाहता



है या नहीं। ओम-चित्रा तो चाहते ही होंगे, भला वे क्यों न चाहेंगे ! — इन सूत्रों से मन रोज बुनता था, पर कुछ निकलता न था, सूत-धागे सब टूट जाते थे, बुनने वाला भुभुला-भुभुला उठता था।

उस दिन गीता के पास मिसेज घोष की मझली लडकी वनश्री बैठी थी। उसके बालों में चन्द्रवेला के ताजे फूल गुथे थे। वस्त्र-विन्यास कुछ ऐसा था, जिस से देवन की सौन्दर्य-दृष्टि वेहद मेल खाती थी।

वे दोनों पास-पास एक ही सोफे पर बैठी थी। सामने कार्पेट पर, पालना भूल रहा था, जिस में बेबी जागता हुआ कुछ एक टक देख रहा था।

देवन सोफे के पीछे खड़ा था। फिर वह सोफे पर झुक गया—दायें हाथ की कुहनी वनश्री के जूड़े को छू रही थी और बायीं कुहनी गीता की बाँह को।

तब उस की दृष्टि दायी और झुकी और वनश्री के बाये कंधे से विलकुल नीचे बरसने लगी—उज्ज्वल ग्रीवा से नीचे अधखुले और निस्संग वतुल उभारों के बीच—जहाँ अजीब-सी उथली-उथली गहराई थी और सब पर ऐसी सफेदी बरस रही थी, जिसे बरबस छू लेने और उसे मिटा देने की इच्छा होती थी।

पालने पर बेबी किलकिला उठा। देवन ने बढकर उसे अपने अक में छिपा लिया और माँ की तरह कुछ लोरी-सा गाता हुआ वहाँ से डोल गया। आँगन में घूमा, सीढियों पर भाँक आया, आँगन से सडक निहारता रहा, अन्त में उसे आया को दे कर वह फिर वही लौट आया। विवश वह फिर उसी तरह पीछे जा खड़ा हुआ। इस बार वह गीता से कुछ बातें करता जा रहा था।

धीरे-धीरे वह गीता के कंधों पर जा झुका। उसी भाँति नीचे की ओर देखा, ग्रीवा से नीचे। वहाँ भी सब कुछ था, पर रंग-आकार और रूप भिन्न थे, विलकुल भिन्न। वहाँ उभार न थे, उसकी पूर्णता थी, जहाँ रूप की वे दोनों सीमाये आपस में मिल गयी थी, जैसे कली फूल में मिल

गयी हो, और दोनो फल बन गये हो । और बीच में कही उथलापन न था, डूब कर खो जाने तक की गहराई थी । सफेदी न थी, लाली थी, जो आगे चल कर हरी-हरी सी लगने लगती थी, जिस में स्पर्श-सुख कम था, दृश्य-सुख उस से भी कम । वहाँ कुछ अपूर्व-सा था, जिसे हम नहीं जानते । क्योंकि हमारे जानने के साधन और हैं, जो हमें अनुभूति तक नहीं ले जाते, बीच ही में छोड़ देते हैं, कली पर, फूल पर । तभी हम उन्हें सेज पर बिछा लेते हैं । सो जाते हैं, जगते तब हैं, जब वे फूल, वे कलियाँ—सब मुर्झा जाती हैं ।

सुबह तड़के ही देवन की आँख खुली । उससे बिस्तरे पर पड़ा न रहा गया, 'बेड टी' भी भूल गया । गीता अक में शिशु को लिये जग रही थी । देवन ने बताया, वह जरा टहलने जा रहा है ।

सूनी सड़क पर आया, टहलने लगा, 'मकीत्रिज' की चढान तै करने लगा । एकाएक बीच ही में रुक गया । गोमती के तट पर उतरने लगा ।

किनारे आकर वह एक स्थान पर खड़ा हो गया । ऊपर त्रिज को देखने लगा । उस पर ऊषा की लाली बरसने लगी थी । त्रिज अभी सूना पड़ा था, कोई न आ-जा रहा था । पर कुछ देर के बाद उस पर से एक भैसा गाड़ी गुजरने लगी ।

देवन को लगा, कि उसकी दृष्टि में कोई त्रिज नहीं है—औरत हूँ जो नदी के आर-पार औधी पड़ी है—पैर एक पार, हाथ दूसरे पार—और बीच का घड़ त्रिज का कार्य कर रहा है ।

छि. अपरूप, घृण्य...उफ !

नहीं, नहीं !

वह बहुत तेजी से मुड़ा, गंज की ओर जैसे भागने-सा लगा । पार्क में आया । रुककर पीछे मुड़ा, त्रिज आखो से ओझल हो गया था । बस,

फैली-फैली सड़क दिख रही थी। लोग आने-जाने लगे थे। स्वर-ध्वनि और आवाजों से वह सहारा-सा पाने लगा।

घर पहुँचते-पहुँचते उसके आँगन में धूप उतर आयी थी। मेज पर चाय लगी ठंडी हो रही थी। बेबी दूध पीकर फिर सो गया था।

उस दिन वह बहुत देर से आफिस पहुँचा। कमरे में प्रविष्ट होते ही उसने देखा, कुर्सी पर एक लड़की बैठी है। अपनी कुर्सी पर बैठते-बैठते उसने कुछ-कुछ पहचाना। वह लड़की कभी उस क्लब में आया करती थी—शायद ऐजिलो नाम है। पर देवन अपरिचित-सा, रुखे स्वर में बोला, “कहिये ?”

लड़की कुछ बोली नहीं, उसने मेज पर एक खत बढ़ा दिया। खत चित्रा का था—कुछ ही पक्तियाँ लिखी थी ‘आपके यहाँ अगर किसी टाइपिस्ट की जरूरत हो, तो उसके लिये यह प्रार्थी है, मुझे भी खुशी होगी। शायद इसे तुम पहचान भी लोगे, यह अपनी माँ के साथ अक्सर क्लब में आया करती थी। अब माँ न रही, यह अकेली है, और इसे जीने का मोह है।’

देवन ने खत को रख लिया, चपरासी के लिये घटी दी। चपरासी से बोला—“बड़े बाबू को भेजो।”

बड़े बाबू ने आकर बताया, “टाइपिस्ट की तो कोई जरूरत नहीं है।”

देवन कुर्सी से उठा, बड़े बाबू को लिये वह दूकान में चला गया। लौट कर बोला, “कल दोपहर को आइयेगा।”

लड़की चली गयी, तब देवन ने फिर खत को निकाला, कई बार उसे पढ़ा और जैसे उन पक्तियों से छानने लगा—जीने का मोह तो सब को है, पर क्यों है ? इसे कोई नहीं जानता, जो जान लेगा, उसे जीने से कोई मोह ही न रह जायगा।

मोह मुझे था, मैंने विवाह किया और अब पिता हूँ और न जाने क्या-क्या होता जाऊँगा। अब तो चल पड़ा हूँ, जैसे विवाह कोई ऐसा

द्वार है जिसमें प्रवेश पाते ही व्यक्ति तो मूल रूप में समाप्त हो जाता है, केवल उसकी छाया भटकने लगती है, अनेक रूप और योनियों में, बाप-बाबा-आजा-परपाजा, न जाने कितनी पीढ़ियों तक। और उर्स ५२ मोह की ५२ मोटी-से-मोटी होती चलती है।

मोह तो तुम्हें भी था चित्रा ! नहीं तो देहरादून और मसूरी की ऊँचाइयों से क्यों इस तरह मैदान में आ फिसलती ! तब तुम लड़की थी, वृद्धा होते तक लड़की ही रहती। अब औरत हो, पत्नी हो, माँ बनोगी ! ...तब..... फिर।

माँ बनोगी ?

देवन जग-सा गया। उस दिन गीता ने भी तो यही पूछा था—‘चित्रा माँ नहीं होगी क्या ?’ कितना अपरूप लगा था यह प्रश्न !

आज देवन के व्यक्ति ने देवन से ही प्रश्न किया।

वह उत्तर देने बैठा, “हाँ, चित्रा माँ नहीं होगी, वह लड़की से पत्नी बन गयी, यही क्या कम है हुआ ! किन्तु पत्नीत्व तो माँ ही बनने का साधन है, और क्या है ?

पर, यह सीमा भी चित्रा को नहीं बाँध सकती ! नहीं बाँध सकती ! !

सयोग से एक बार बाँध गयी थी, पर तोड़ कर निकल आयी। और परिधि से बाहर आ पड़ी। तब से वह परिधि में नहीं चलती, परिधि पर चलती है। और जब चलती है तो सत्य-विश्वास और निश्चय से चलती है। और तब परिधि की गोलाई उसके लिये राजमार्ग बन जाती है।

दूसरे दिन ऐजिलो की नियुक्ति हो गयी। उसे सामने बैठाकर देवन चित्रा को एक पत्र लिखने लगा। पत्र पूरा करके उसने दो बार अपने में पढ़ा, कुछ काटा, कुछ बढ़ाया, फिर उसे ऐजिलो को टाइप करने के लिये दे दिया।

“कितनी कापियाँ निकालू ?” उसने स्त्री-स्वर से पूछा ।

देवन चुप रहा—पर केवल चुप था, सूना-सूना सा, उस में कहीं भी चिन्तन—मनन न था ।

“इसी तरह चित्रा को दे देना ।” देवन ने पत्र को लिफाफे में कर दिया ।

ऐजिलो चली गयी, पर उस के पीछे ही देवन भी कमरे से बाहर निकला । उसे पुकार कर फिर पत्र ले लिया । “कहना कि मैं स्वयं आऊँगा ।”

उसके पीछे देवन ने पत्र फाड़ डाला । घर पहुँचते-पहुँचते उस के मन में आया—मैं क्यों चित्रा के यहाँ जाऊँ ? वह क्यों न आये ?

कमरे में गया, पालने पर बच्चा किलकारियाँ मार रहा था । गीता वहाँ न थी । वह बच्चे को देखता खड़ा रहा । बच्चे ने जैसे कहा, चित्रा तो आयी थी । आयी थी न । सोचो, विचार कर देखो न ! अब भी तो वह तुम्हारे सँग है ।

उधर उस शाम को ऐजिलो सीधे चित्रा के पास गयी । जो बातें पत्र द्वारा भी न पहुँचाई जा सकती थी, वे सब चित्रा को जैसे मिल गयी ।

और दूसरे दिन जब ऐजिलो आफिस आयी तो उसने उस सूत्र से देवन को बाँध दिया जो उन दोनों के बीच टूटा-सा लटक रहा था ।

देवन चिन्ता में गड़ गया । घर गया, तो उसने गीता से कहा कि, उन्हें ओम के घर निमंत्रण है ।

गीता तो एक तरह से देवन ही थी । उसने देवन से अलग करके अपने को कभी सोचा ही न था ।

ताँगे पर बैठते-बैठते गीता ने मुस्कराहट से कहा, “सच, देवन ने बुलाया है ?”

ताँगा चल पड़ा ।

देवन के मुख से निकला, “हमारे बेबी के उत्सव पर चित्रा आयी थी, उसी को पूरा करने के लिये, समझो यह हमारी ‘रिटर्न विजिट’ है ।

न जाने क्यों गीता बेहद प्रसन्न थी। उसकी अलके हवा में बह-बहकर उसे परेशान कर रही थी।

दिन भर जितनी-गर्मी थी, उस शाम को हवा बह चलने से उतनी ही सरसता आ गयी थी।

पर देवन को बेहद उमस लग रही थी। उसे लगता था, जैसे वह पसीने से तर होता चल रहा है। ताँगा ज्यो-ज्यो ओम के घर के समीप पहुँचता जा रहा था, उसके शरीर की उमस, उसके भीतर फैलती जा रही थी।

देवन चुप बैठा रहा, ओम के यहाँ पहुँच कर गीता ने ताँगे वाले को रोका। बच्चे को अक में लिये हुये उतरी, तब देवन उतरा, जिसके भीतर जैसे सब कुछ पिघलता-सा जा रहा था।

ओम-चित्रा दोनों थे। कौतूहल-वश वे बाहर निकले। चित्रा ने बड़ कर स्वागत किया। अतिथि भीतर आये, पर अतिथेय-ओम न जाने कब, कैसे घर से एकाएक गायब हो गया।

गीता-चित्रा, दोनों को इस पर कुछ भी आश्चर्य न हुआ, देवन को बहुत लगा।

इस वार देवन, गीता की भी ओर से चित्रा से बातें करने लगता था। चित्रा कम बोल पा रही थी, जो कुछ बोलती भी थी उसे गीता की दृष्टि से जोड़कर बोलती थी, देवन की दृष्टि से मानो वह अपने को बचाती थी।

उसी बीच संयोगवश ऐजिलो भी आयी। गीता से तब परिचय कराते हुये देवन ने बताया कि वह दफ्तर में नयी टाइपिस्ट रखी गयी है।

सब पखे के नीचे बैठे थे। गीता की अलके बराबर बिखरती चलती थी। शिशु चित्रा के अक में था। पर देवन उसके अक में शिशु के स्थान पर अपने क़ो बैठा पा रहा था। शिशु तो जैसे अभी पैदा ही न हुआ था।

देवन ही शिशु था। वह तीनों ओर आँख उठा कर देखता था—लालच

से, इच्छा से, वासना से, सहज-आकर्षण से । चित्रा के वक्ष बही थे, बिल्कुल वही, जैसा कि उसने पहली बार देखा था । ऐजिलो के पास ऐसे थे, जिसके लिये अनुमान-कल्पना की आवश्यकता न होती थी, जो कुछ भी था, सब मूर्त था । पर गीता ? गीता ? गीता ?

तब देवन की दृष्टि में उसका शिशु आया । उसने हाथ बढ़ाकर चित्रा की गोद से उसे उठा लिया । अंक में गड़ाये वह कमरे से बाहर निकल गया—खुली हवा में ।

बाहर आ, उसकी इच्छा होने लगी कि वह शिशु को उसी तरह अंक में छिपाये वहाँ से गायब हो जाय—लखनऊ से बाहर । किसी, ऐसे गाँव में चला जाय, जहाँ कोई रोशनी न हो ।

पता नहीं, गीता-चित्रा भीतर क्या बातें कर रही थी । देवन ओम को सोच रहा था । वह क्यों चला गया ? देवन, पर अपने चिन्तन में कुछ पा नहीं रहा था ।

भीतर से तीनों निकलकर देवन के पास आयी । शिशु सबका आधार बन गया । देवन की दृष्टि तभी चित्रा से मिल गयी, फिर जैसे वहाँ कोई और न था, केवल देवन-चित्रा थे ।

देवन ने वच्चे को चित्रा के अंक में डाल दिया । और निरपेक्ष होकर देखने लगा, चित्रा-शिशु, और दूसरी ओर गीता जो अभी लडकी ही है, माँ नहीं ।

सब चले गये, तब ओम लौटा । चित्रा को दृष्टि को जैसे पकड़ते हुये उसने पूछा, “चले गये ? कैसे आये थे ? क्या बात है ?”

प्रश्न अनेक थे, जैसे एक प्रश्न अनेक प्रश्नों को जन्म देकर आगे बढ़ता था, जिसमें चित्रा बस, चुप खड़ी थी । और उसके भी पास प्रश्न थे, जिन्हें वह शायद ओम के सामने रखती, पर उसे चुप रहना पडा ।

पर ओम न चुप रहा। वह बड़बड़ाने लगा, “सती सावित्री को मेरे घर की देहरी का श्राप नहीं लग जायगा ? और देवन-देवता जो हैं देवता बहुत ऊँचाई पर रहते हैं, वे इतने नीचे कैसे उतर आते हैं ?”

चित्रा उसके सामने से हट गयी। भीतर कमरे में जा खड़ी हुई। ओम वहाँ भी पहुँचा और छाया की तरह उस के पीछे-पीछे लगा रहा।

तीसरे कमरे में डोलकर चित्रा ने उस की छाया तोड़ दी। रोशनी बुझा कर वह अपने पलंग पर लेट गयी, फिर ओम से न बोला ही गया, न वहाँ वह रुक ही सका।

अन्धकार में चित्रा अकेली रह गयी। वह क्या-क्या सोच रही थी, उसे कुछ भी न पता था, फिर भी उसे वह अन्ध-स्थिति बहुत अच्छी लग रही थी। प्रयास से उसने अपनी पलके मूद रखी थी। एकाएक उसे लगा उसके सून—अन्धकारमय कमरे में देवन आया है। उसके दायें हाथ में पिघलकर रोती हुई एक मोमवत्ती है। कमरे में रोशनी फैल जाती है। वह मोमवत्ती की लौ को अपलक देखता हुआ चुप-मौन खड़ा रहता है। चित्रा उसे देखती है, पर केवल देवन को ही नहीं, समूचे भावचित्र को। और वह स्वयं ही अस्फुट स्वर में बोलने लगती है—देवन, तुम में अपना शक्तिशाली निजत्व है। तुम्हें कमजोर बना, अपने स्तर पर तुम्हें झुकाकर मैं तोड़ना नहीं चाहती।

चित्रा सहसा टूट गया। कमरे में ओम ने आकर बिजली जला दी।

देवन और गीता दोनों सो गये थे। रात भी बारह बजे से आगे झुका रही थी। नींद में एकाएक गीता को ऐसा लगा, कि उसका बच्चा रो रहा है। वह उठी, पाया, बच्चा सुख से सो रहा था। एक क्षण बाद, उसे आभास हुआ कि कहीं से बहुत ही मद्धम स्वर की कराह आ रही है। वह सो जाने के लिये प्रयत्न करने लगी, पर सो न सकी। उठ खड़ी



हुई, बाहर का बल्व जला दिया और जीने के दरवाजे की ओर बढ़ी, कराह उसी दिशा से आ रही थी।

वह देवन को जगाने बढ़ी, पर जगा न सकी। पर वह कराह के स्वर से अशान्त भी होने लगी। अवश उसने देवन को जगाया। कराह की बात सुनते ही देवन के मुह से निकला, “यहाँ कराह सुनती चलेगी तो कभी नींद नहीं आयेगी !”

पर गीता ने उसे उठा कर छोड़ा। जीने पर रोशनी करते ही दोनों ने देखा—जीने की तीसरी सीढ़ी पर गिरी, कराहने वाली वनश्री थी। तब तक उसका कराहना वन्द हो गया था और वह बेहोश हो चली थी। देखते ही देवन गीता का दायाँ हाथ पकड़े ऊपर खींचने लगा, वहाँ से भाग चलने के लिये।

पर गीता रो पड़ी और देवन हार गया। गीता वही सीढ़ियों पर वनश्री के सर को अपनी गोद में रखकर उस पर पानी के छीटे देने लगी, और उस पर अपने आँचल से हवा करती रही।

कुछ ही क्षणों में उसे होश हो आया और वह गीता को देखकर निशब्द रो पड़ी। गीता सहारा दिये हुये उसे ऊपर ले आयी। उसके पेट में अथाह पीड़ा हो रही थी। उस पीड़ा में वह बारबार कहती थी कि माँ को खबर न होने पाये, माँ को खबर न होने पाये।

लेकिन खबर इतनी बड़ी थी कि दबाते न बनी। वह ऐसी घटना ही थी कि जिसकी स्वयं की जिह्वा होती है। वह सब से बता गयी। माँ से तो रो-रोकर कह गयी।

पूरे हफ्ते तक वनश्री बीमार पड़ी रही। गीता ने उसकी बड़ी चिन्ता की। उसे सब से अधिक आश्चर्य और सन्तोष इस पर था कि उस घटना की कोई विशेष प्रतिक्रिया किसी पर भी न हुई थी; न मिसेज घोष पर, न वनश्री के भाई-बहनो पर, न देवन पर, न आया पर।

और दसवे दिन गीता ने देखा, उस की प्रतिक्रिया स्वयं वनश्री पर भी न थी। वह फिर उसी तरह मेकअप करने लगी। आने-जाने लगी।

घोषाल बाबू भी आये थे। उसके लिये उन्होंने एक हार खरीद दिया था, वह फिर एक ही रात रह कर चले गये थे। एक दिन गीता आया से कह रही थी, इस दृष्टि से इस शहर का बहुत बड़ा चरित्र है। यहाँ सब कुछ जैसे सागर में खो जाता है, सब भूल जाते हैं, और सब धुल भी जाता है। जैसे सब असहज यहाँ अपने आप सहज बन जाता है। गाँव, कस्बे और बनारस के मुहल्ले इसे नहीं छिपा सकते। वहाँ यह सब उबल कर बह जाता है।

आया ने कहा था, यहाँ तो सब भीतर ही भीतर सड़ता है रानी बहू।

एक दिन देवन गीता पर इसी तरह झुझला पड़ा था। यहाँ सेक्स से चरित्र नहीं जोड़ा जाता। दोनों निरपेक्ष हैं। इसे समझने की कोशिश करो।

गीता क्या समझे, क्या न समझे, अक्सर उसमें एक द्वन्द्व छिड़ता था। उसका हल ढूँढने के लिये वह अपने को मथती, रामायण और काव्य-पुस्तकें पढ़ती, पर वे सब उसका साथ न देते। वह रास्ते में अकेले ही छुट जाती।

इतवार था। सुबह न जाने कब देवन टहलने निकल गया था। लौटा तो आते ही देखा, गीता बच्चे को अपने अक का दूध पिला रही थी। देवन ने मानो वह देखा, जिसे उसने कभी न देखा था। वह गम्भीर स्वर में बोला, “मैंने कितनी बार कहा है कि बच्चे को अपना दूध न पिलाया करो। यह कोई गाँव नहीं है। उस अग का मूल्य है !”

“बच्चे से भी ज्यादा।” गीता को कहना पड़ा।

“मुझसे तर्क न किया करो गीता, मेरे साथ चलना है तो मेरी गति से चलना होगा।”

गीता बेवकूफी की तरह हँस पड़ी। अपने को बदलने के लिये नहीं, देवन की शान्ति के लिये। बच्चे को आया ने ले लिया। बच्चा दूध पीते-पीते सो चला था।

गीता देवन के सामने आ खड़ी हुई, मुस्कराकर बोली, “डॉट चुके, अब समझाओ मेरे अक मे प्रकृति ने दूध का सागर क्यों दिया ?”

देवन सब काट गया, बोला, “आज दोपहर को इंजेक्शन लग जायगा।”

“किस बात के लिये ?”

“तुम्हारे दूध के लिये।”

“दूध सुखाने के लिये !” गीता जैसे अपने-आप से बोली, “यह पाप नहीं होगा देवन !”

“नहीं।”

“प्रकृति के प्रति विश्वासघात ?”

“कुछ नहीं, कुछ नहीं।”

देवन के स्वर में तीव्रता थी। गीता उसे ढो न सकी। उसकी गंभीर बड़ी-बड़ी आँखें सहसा आँसुओं से भर गयीं।

पर उन आँसुओं को देवन न देख सका। उसे गीता ने बड़ी सावधानी से अपने मुस्कराते से ओठों को दिखाया।

दोपहर को इंजेक्शन लग गया, किसी नर्स, मिडवाइफ या सिस्टर के हाथ नहीं, एक विशेष डाक्टर के हाथ। पर गीता अपने से विवश थी। उसके भीतर एक दर्शन था, संस्कार और भावनाये थी, वे सब न जाने क्यों गीता-माँ को दश रही थी।

आया को उस दिन गीता ने अपने पास से जाने न दिया। उस ने गीता को समझाया था कि सच, बहूजी ! यहाँ बड़े घर की औरते अपना दूध कभी भी नहीं पिलाती। आपने तो इतने दिनों पिलाया भी है।

आया को सामने बैठाकर गीता इसी वाक्य को उससे अनवरत सुनती जाती थी और उसके सत्य में अपने को बाँध कर, खूब जकड़ कर अपने असत्य से आगे बढ़ जाना चाहती थी।

पर जैसे ही वह शिशु को अक में ले उसे शेष दूध पिलाने लगती थी, उसके मन का बाँध टूट-टूट जाता था। वह शिशु के सग नदी की धार में बह जाती थी।

उसी दिन गीता ने अपने शिशु का नाम सागर रख दिया । उसका सागर सूख जायगा तो उसकी आँखों का सागर उसे भर देगा ।

दूसरे सप्ताह में, एक दिन गीता को लेकर देवन फिर ओम के यहाँ गया । उस दिन ओम उनके बीच से कही गया नहीं, पूरे समय घर ही रहा ।

देवन से उसकी कुछ औपचारिक बातें भी हुई । पर वह गीता से न बोला । चित्रा से भी झुझला-झुझला कर बातें कर बैठता था ।

उस दिन न जाने क्यों, कैसे गीता यह भाव लेकर लौटी कि उसका निरादर हुआ है और उससे भी अधिक उसके देवन का । उसके मन में यह भी भाव उठा कि ओम के सामने देवन अपने को हीन पाता है ।

दूसरी ओर, चित्रा के प्रति उसकी भावनाओं में अपूर्व कृतज्ञता थी । उसका मन कहता था कि चित्रा वह नहीं है, जो वह बाहर है, उसे होना पडा है, बल्कि वह उसका कवच है ।

शीतलराय अपनी पत्नी के साथ गीता के घर आये । जाते समय वे अपने साथ गीता-देवन को भी ले जा रहे थे । देवन तैयार न था, परगीता का मन था कि, वह चली जाय । कुछ तो 'डी हेविन' से उसका मन ऊब गया था, और कुछ उसे उस पुराने घर के प्रति ममता थी । विशेषकर उस हवेली का आँगन उसे बहुत मोहक था—बिल्कुल बनारस वाले आँगन की तरह । 'डी हेविन' में कोई आँगन थोड़े था । छत और बारज के बीच बहुत थोड़ी-सी खुली जगह थी, जिसे गीता ने जबरन अपने नये घर का आँगन मान रखा । उसने बनारस में बहुत सुना था—आँख बिनू, मानुख, आँगन बिनू, घर—दोनों नाहि कबहूँ सुखकर ।

गीता का मन रखने के लिये उनके साथ देवन भी पिता के घर गया । रात का खाना खाकर वह अकेले अमीनाबाद पार्क की ओर बढ़ा और निर्लक्ष्य घूमते-टहलते वह न जाने किधर चला गया ।

रात को फिर न लौटा । गीता निश्चिन्त थी, देवन 'डी हेविन' गया होगा । वह सन्तुष्ट भी थी, देवन के मन पर अधिक भार न पड़े

पर देवन की रात 'डी हेविन' में न कटी, कही और कटी, जहाँ देवन का द्वन्द्व था ।

वहाँ चित्रा न थी, पर ओम था ।

बहुत लम्बी अवधि के बाद देवन गया था । सब लोग उसे पाकर आश्चर्य में थे । उसके आगमन पर क्लब के मंत्री ने 'राम्बा' का विशेष बैंड बजवाया था । यह उसका सब से प्रिय नृत्य था । उसकी 'सिम्फनी' के प्रति उसकी अपार ममता थी ।

पर वह नाचा नहीं ।

ओम एक मोटी औरत के साथ था । उसी के साथ वह नाचता भी था और नाच के बाद शराब भी पीता था ।

देवन ओम की मेज पर जा बैठा । पता लगा, चित्रा के सर में दर्द था और वह घर रह गयी थी ।

रात के एक बजे थे । वह क्लब से भाग कर ओम के घर आया । बरामदे में खड़ा हो कर उसने देखा, भीतर रोशनी हो रही थी और शायद भीतर चित्रा जग भी रही थी ।

देवन ने कई आवाजे दी, पर उसे कोई उत्तर न मिला । फिर वह बरामदे में चुपचाप टहलने लगा ।

सहसा उसने देखा, बैठक के कमरे में कोई आया है, और बार-बार अपने को छिपाकर वह शीशे के पीछे से झाँक रहा है । देवन रूठ गया था और वह मौन, अलक्ष्य, बस अपने-आप में टहल रहा था ।

दरवाजा खुला । चित्रा बाहर आ खड़ी रही, पर उसे बिना देखे टहलने वाला एक ओर गुमसुम खड़ा रहा । फिर दोनों खड़े रहे—निस्पन्द चुप ।

चित्रा लौटकर बैठक में गयी और सर थामे वही सोफे में जा घँसी । सब देवन भी अन्दर गया । सामने जा खड़ा हुआ । बैठ गया । चित्रा की आँखें जैसे दर्द से मुदी थी ।

देवन बोला, "सर-दर्द है ?"

देवन ने उठकर छत का पखा खोल दिया । और चुपचाप अपनी गह बैठ गया ।

चित्रा ने आँखे खोली । कुछ क्षण वह सर झुकाये रही । फिर बोली, गीता कहाँ है ?”

देवन चुप था । उसने भी अब सर झुका लिया ।

चित्रा फिर बोली, “रात के दो बज रहे हैं । गीता अकेली होगी ।”

“तुम्हारे सर मे दर्द है ?” देवन बोला ।

“नही तो !”

“फिर क्यों जग रही हो ?”

“तुम्हारे सर मे दर्द है क्या ?” चित्रा ने उसे देखा ।

देवन चुप था ।

“तुम क्यों जग रहे हो ?”

चित्रा के प्रश्न ने देवन को हिला दिया । उसके भीतर कुछ मथ गया । तब उसकी दृष्टि में एक सत्य और भी कौघा । चित्रा की उँगलियों में पुखराज और नीलम की दोनो अंगूठियाँ नहीं हैं । कलाई की घड़ी भी गायब है । चित्रा के आनत मुख पर न जाने क्या भाव थे । सर के बाल बिखरे-से थे, पर उनके बीच का सीमंत आज सूना न था । बीच में उसका थोड़ा-सा भाग सिदूरी था ।

“यह सिदूर कब से ?” देवन के मुख से जैसे एकाएक फूट गया ।

चित्रा ने सर उठाया । मीठे स्वर में बोली, “जब से गीता को देखा ।”

देवन का चेहरा सुर्ख हो आया, फिर सफेद-सा होने लगा । उसे लगा, जैसे उस पर व्यग्य किया गया है । वह अपने को बाँधने लगा ।

चित्रा कहती गयी, “गीता इतनी सरल है कि मोह लेती है । उसे देखकर औरत होने को जी कहता है ।”

“तुम औरत नहीं हो क्या ?”

चित्रा से कुछ न बोला गया । वह शून्य-भाव से देख रही थी । देवन

का सारा मुख तमतमाया हुआ था, जैसे चित्रा से पायी हुई सत्य की अनुभूतियाँ उसे दश गयी ।

वह जैसे अपने-आप पर क्रोध करके बरस पड़ा, “इतना व्यग्य मत करो चित्रा ! गीता मोहती है या नहीं, पर तुम जैसी सैकड़ों औरते....” ।

देवन का स्वर सहसा टूट गया ।

उसने फिर से जोड़ा, “मैं तुम से कुछ मागने नहीं आया हूँ । तुम मुझ पर व्यग्य कर सकती हो, गीता पर नहीं ।”

फिर कुछ सूख गया ।

तब भी उसने गीला किया, “किसी भी मानी में गीता तुम से पीछे नहीं है ! क्या समझती हो तुम अपने को ? अपनी हैसियत भूलती हो ?”

देवन उठकर दरवाजे तक चला आया । चित्रा उसी तरह निर्विकार बैठी रही । वह कुछ भी न समझ सकी, देवन ने क्या-क्या कह डाला । शायद देवन स्वयं ने भी कुछ न समझा । कुछ था, टूटा, पर जुड़ा-जुड़ा सा और उसके बीच में भी बहुत-सी जमी हुई परते थी । और सब परते भूखी थी; इतनी भूखी कि उन में से बिना गति की, लय-शून्य आवाजे हो आयी, जैसे खाली पेट की विवश आँते ।

चित्रा भी उठी, बिल्कुल सहज ढंग से । चेहरा उसका बरस आया था, हरियाली थी उस पर । देवन के दाये कंधे को थाम, वह बोली, “सच, मेरे सर में बेहद दर्द था, और पिछले कई दिनों से लगातार था, अब चला गया ।”

देवन अपनी दृष्टि को आग्नेय बनाना चाहता था, पर वे उतनी ही ठडी पड़ रही थी ।

चित्रा ने कहा, “मैं जीत गयी देवन !”

देवन बरामदे में बढ कर, घर से बाहर निकलने लगा । चित्रा सामने आती हुई बोली, “चलो, मैं आज तुम्हें घर तक छोड़ आऊँ !”

“नहीं चाहिये !”



“तुम्हारे ‘चाहिये’ को मैं भी कुछ जानती हूँ ।”

“वह-देवन और था ।”

चित्रा को हँसी आ गयी, पर वह हँस न सकी । किस पर हँसे ? कहाँ कैसे हँसे ? जिन पर, जहाँ हँसा जाता है, या तो वह कोई बहुत दूर का हो, या बिल्कुल अपना हो ।

देवन चला गया । चित्रा उस ओर खड़ी देखती रही । कमरे में लौटी । उस बक्स को खोला जिसमें पिछले दिनों देवन की लायी हुई सब साड़ियाँ, कपड़े और उसकी भेट की हुई वे दोनों अगूठियाँ, कलाई-घड़ी और गले के हार, कान के टप्स वगैरह—सब सँजो कर रख दिये गये थे ।

खुले बक्स को देखती वह भावशून्य बैठी रही, बैठी रही । तब उसने देवन के साथ अपने खिचे हुए सब चित्रों को चुना, और उन्हें बड़े लिफाफे में बन्द कर बक्स में गाड़ दिया । बक्स बन्द कर उसमें सब से मजबूत ताला लगा दिया और उसकी कुजी को अन्धकार में फेक कर गायब कर लिया

दूसरी शाम को देवन गीता को बुलाने गया । गीता उस समय आर्या दादा के घर थी । उनके घर पहुँच कर सब से पहले देवन ने अपने शिशु-सागर को देखा । आर्यादादा की गोद में था वह । उसे छीनकर अपने अक में उसने इतनी ममता से चिपका लिया, जैसे वह वर्षों बाद मिला हो ।

भोजन के बाद रात को वे लौट सके । देवन तब से बराबर अपने शिशु को अक में लिये रहा । घर में जितने बल्ब लगे थे, उसने सब को जला लिया ।

गीता से विनय-स्वर में बोला, “तुलसी तले घी का दीपक जला लो ।”

पूरा घर रोशनी से भर गया था । देवन की इच्छा थी कि रात भर उसी तरह उजाला रहे । गीता देवन को समझने की कोशिश करती चल रही थी । उसे कुतूहल और विस्मय का सुख भी मिल रहा था ।

सागर और उसकी माँ दोनों को अपने पार्श्व में ले देवन पलंग पर का०

लेटा। गीता देख रही थी। देवन के बाल बिखरे हैं, आँखें नींद और थकान से बुझी-बुझी-सी लग रही थी।

सागर सो गया, तब गीता ने उठकर देवन के सर को अपनी गोद में ले लिया, और उसमें तेल मलने लगी। देवन ने सदा विरोध किया था, उस क्षण जैसे, उसे कुछ सुधि ही न थी।

आँख उसकी कड़ुआने लगी, और उस में से आँसू बहने लगे। देवन ने सम स्वर से कहा, “बहुत दिन हुए तुमने सितार नहीं बजाया ?”

“बजाऊँ ?”

“सागर जग जायगा।”

“मैं उसे गोद में लेकर बजाऊँगी।”

“नहीं, जाने दो।”

“मैं ड्राइंग-रूम में बजाऊँगी। तुम्हें तो अच्छा भी लगता है, दूर से सितार की धीमी-धीमी गति आती हो,” रुककर फिर बड़े मन से बोली, “इधर दो गीतों की मैंने कापी भी की है।”

“फिल्मी ?”

“जी !”

बिना एक क्षण रुके वह ड्राइंग-रूम में बैठ कर सितार बजाने लगी। देवन आँख मूंदे रहा। आँसुओं से आँखें डूबी रही। एक सागर सो रहा था। एक सागर सूख गया था, और तीसरे सागर की तूफानी लहरे देवन की आँखों में उठ रही थी। उन लहरों पर सितार का संगीत तिरता चल रहा था। तेज, बहुत तेज पुरवाई चल रही है, नदी में भी भयानक वेग है। खूब ऊँची-ऊँची लहरे उठ रही हैं। किसी बच्चे ने अपनी कागज की नाव उसमें छोड़ रखी है। नाव तो डूब गयी है, पर बच्चा नदी के कगार पर प्रसन्न खड़ा है कि उसकी नाव लहरों में तैर रही है। उसी में नाव डाल दी है तभी नदी में लहरे उठ आयी है।

अगले कई दिनों तक देवन ओम की दूकान पर जाता रहा। और

उसने तै करा लिया कि इतवार को वे सब लोग कही पिकनिक पर चलेगे ।

फिर वह चित्रा के भी पास गया, जैसे चित्रा के प्रति उसका कोई भी व्यवहार उसे इतना असहज नहीं लगता कि वह उस से पूर्वाग्रह बनाता, उससे भिन्न या दुराव पाता । चित्रा अवश उससे दया करने लगती, फिर उसे पाप-विश्वासघात अनुभव करके अपने अतीत की चित्रा से घृणा कर बैठती । देवन अपने को यथार्थवादी, समयी, शहरी स्तर का मानता है । गलत है । वह कुछ और है, अपने को मानता-समझता भी कुछ और है । यही अन्तर्विरोध उसे यह समझने ही नहीं देता, कि वह क्या है, क्या कर रहा है, सब का परिणाम क्या होगा ? उसकी गति कहाँ है ? तभी वह दया छीनने लगता है । पर वह शायद कभी दया में पला नहीं है । दया में पाला है उसने—गीता को ?

नहीं, नहीं, मैं ऐसा क्यों कहूँगी ? यह नहीं हो सकता ।

देवन ने मुझे दया दी है, मुझे उबारा है, ओम के साथ मुझे भविष्य दिया है, और हम सब का उद्धार करना चाहा है गीता ने । गीता महान है । हम सब के ऊपर उदाहरण है । उसने साक्षात् विष ही पी लिया है, जिससे मौत होती है । कितनी प्राणशक्ति है गीता में ! अतुल साध, उदार सकल्प, अनोखे स्वप्न ।

जिसने मुझे दया दी है, उसे मैं दू—यह विश्वासघात होगा । देवन की दया बहुत बड़ी थी । उसमें क्रिया थी, रचना-शक्ति थी । अगर उस दया देने वाले में मेरी दया जुड़ेगी, तो अनेक स्वप्न टूट जायेंगे । कई समाज बरबाद हो जायेंगे । कल्पना टूट सकती है, स्वप्न नहीं, क्योंकि वह किसी तपस्या की अनुभूति है ।

देवन की कल्पना को मैं तोड़ लूँगी जिससे उसका स्वप्न सत्य हो जाय । दया पाकर नहीं, अब घृणा पाकर । घृणा ?

पर घृणा तो जिसमें आती है, वह पहले उसी को तोड़ देती है, और उसे इतने नीचे ले जाकर गिरा देती है, जहाँ गति नहीं होती !

उसमें से अपने को निकाल कर, बिल्कुल अलग कर—अपने को ही

कुछ कर लूगी । मैं तो केवल व्यक्ति हूँ, देवन एक समाज है, उसकी पीढ़ियाँ हैं, अजन्म धारा है—गीता-शिशु और ऐसे अनेक ।

पहले दिन उन सब की पिकनिक बनारसी बाग में हुई । दूसरी 'लॉ मार्टेन कालेज' के तालाब पर । गीता को बेहद सन्तोष था । देवन का जैसे सब कुछ पट गया । विवश था ओम, और वह बिखरता भी रहता था । चित्रा चुप थी, सहन करने की पूरी तैयारी के साथ ।

तेईस अक्टूबर को चित्रा की वर्षगाँठ थी । वह पर्व केवल देवन के मनाने के लिये था, जैसे उसने कई वर्ष पहले उस तिथि को स्वयं उस रूप में मान लिया था और मानता चला आ रहा था । पिछले वर्ष उसने मनाया न था, अनुभव किया था और उस अनुभव में उसने गीता को एक रिस्टवाच भेंट की थी । उसे अपनी रुचि का कपड़ा पहनाया था ।

बच्चे को उसने घर आया के पास छोड़ दिया था । गीता को लेकर वह ओम के यहाँ पहुँचा । चित्रा को बताया कि उसकी वर्षगाँठ है । स्वयं अपने हाथों उसने घर की सब बत्तियाँ जलायी । आग्रह करके चित्रा को नये कपड़ों में किया ।

ओम निष्क्रिय बैठा रहा, जैसे वह किसी उद्बुद्ध दर्शक की भाँति सब देखने के लिये था । गीता उसके पास बैठी हुई जैसे समूचे दृश्य की साधारण जनता थी, जिसे केवल देखना ही था—महज देखने के लिये, विचारने के लिये नहीं ।

देवन चित्रा को लिये कही चला गया । ओम के सामने गीता निस्पन्द बैठी रही । अकारण ओम हँस पड़ा । गीता घबड़ा उठी ।

ओम गीता के बिल्कुल पास आकर बोला, "देखा, वे दोनों कही चले गये । कितनी अच्छी हो तुम कुछ सोचती नहीं । कुछ मतलब नहीं लगाती '... ..यही वह कमरा था; पिछले वर्ष तुमने मुझे चुनौती दी

थी—अपनी पवित्रता और आदर्श में देवन को बाँधकर मुझ से सब को तोड़ने और अलग करने के लिये आयी थी। वह सब क्या था ? ताकि मेरी साया तुम पर न पड़े। जैसे मैं कोई डाकू था।

गीता घबड़ा कर खड़ी हो गयी।

ओम कहता गया, “और आज देखो, मेरा घर है, मूनी रात है, मेरे साथ तुम अकेली हो।”

गीता चीख कर रो पड़ी।

“चीखना, रोना कोई कुछ काम न देगा। जान बूझ कर तुम मुझे सौप दी गयी हो, अब मैं चाहे जो तुम्हारे साथ कर सकता हूँ।”

गीता कमरे से निकल भागी। ओम ने उसे पकड़ा नहीं। साथ-साथ वह बरामदे में आ खड़ा हुआ।

“पर मैं इतना बुरा नहीं हूँ, तुम्हारे देवन में तो अच्छा ही हूँ। मैं चरित्र का कोई पुतला लिये नहीं घूमता। जैसा हूँ वैसा ही रहता हूँ।”

गीता सिसक कर रोती रही।

ओम ने अपनी आवाज गिरा ली, “अब जाओ अपने घर। आज मैं तुम से कहता हूँ फिर यहाँ कभी न आना। जाओ, घर बच्चा रो रहा होगा। चली जाओ।”

और गीता को एक रिश्ते पर बिठाकर वह सर झुकाये उसी कमरे में लौट आया। न सोचा, न वह कुछ परेशान हुआ। थोड़ी-सी शराब ढाली आधी पी ली और आधी को देखता रहा।

करीब डेढ़ घंटे के बाद वे दोनों लौटे। ओम के सामने से जब वे गुजरे, उस समय वह गिलास को ओठों पर लगाये आँख मूंद रहा। और वे दोनों जब उसके सामने आ खड़े हुये, तब वह उठ खड़ा हुआ।

देवन के मुह से निकला, “गीता कहाँ गयी?”

ओम ने तो पहले ध्यान नहीं दिया। ध्यान दिया तो वह व्यग्र से मुस्करा पड़ा। पर बोला तब भी नहीं।

तब चित्रा ने पूछा, “सच, गीता कहाँ है?” बताते क्यों नहीं?”

“शराब पिये हूँ, देखती नहीं !”

ओम के तीखे स्वर में एक चुनौती थी। देवन परेशान हो गया। वह दौड़कर सारा घर छानने लगा। चित्रा ठगी-सी खड़ी थी। देवन ने आवेश में आकर ओम के दोनों कंधों को भीच लिया।

ओम ने फौरन भाड़ दिया, “घर जा घर ! ... .. में ओम हूँ।”

घूर कर उसने देवन को देखा। वह कमरे से बाहर मुड़ रहा था। उसी दृष्टि को घुमाकर तब उसने चित्रा पर गड़ा दी।

“वर्षगाँठ की बधाई !”

“बको मत !”

चित्रा वहाँ से चल दी। ओम फूट कर हँस पड़ा। जहाँ वह कपड़े बदल रही थी, वहाँ भी वह पहुँचा। धीरे से बोला—“वर्षगाँठ पर न सही, मुहब्बत की नयी गाँठ पर ही सही, बधाई क्यों न लोगी ?”

चित्रा चुप थी।

“क्या-क्या भेट की है ? दिखाया नहीं।”

चित्रा ने उसे विरोध की दृष्टि से देखा, पर उससे कुछ बोला न गया, बस वह सुलग कर रह गयी। ओम उसके पीछे पड़ा रहा। जैसे उसे किसी उत्तर की अपेक्षा थी। पर चित्रा के पास जैसे कोई उत्तर न था। बस, केवल प्रश्न थे।

फूलती हुई साँसों में देवन लौटा। सीधे ओम के पास जा खड़ा हुआ, क्रोध से बोला, “गीता को क्या कहा है ?”

“इतना ही बुरा लग गया ?”

“वह कम था।” देवन भावव्रस्त था, “तूने जो बेइज्जती आज मेरी की है, उसका कोई जवाब नहीं है।”

बहुत ठंडे स्वर में ओम बोला, “जवाब है, मेरे पास नहीं, तुम्हारे ही पास है।” देवन उसे आग्नेय दृष्टि से देखता खड़ा था।

ओम ने उसी स्वर से कहा, “अपने चारो ओर लम्बे-चौड़े शीशे रखो और बीच में खड़े होकर मेरी कही हुई बातों के ऊपर इसी तरह क्रोध से चीखो, शीशे में तुम्हारी ही परछाइयाँ तुम्हें जवाब दे देगी।”

“होश में बाते करो, नहीं तो।” देवन ने क्रोध से अपना ओंठ भीच लिया। ओम मुस्कराया। आवेश में देवन आगे बढ़ा। सहसा बीच में चित्रा आ गयी। देवन का हाथ पकड़े वह बरामदे में बढी। उसके साथ साथ रेक्शे में बैठी ‘डी हेविन’ चली आयी।

शिशु आया के अक में रो रहा था। गीता पलंग पर रो रही थी, औधी निस्सहाय-सी, देवन वहाँ एक क्षण रुक कर हट गया। आया के अक से शिशु को लेकर वह उसे बहलाने लगा।

चित्रा को देखते ही गीता चुप हो गयी। पर उसके मूक आँसू रह-रह कर बरसते रहे। वह क्यों इस तरह रो रही थी, उसे बाँधने के लिये जैसे वाणी न थी, और आँसू उसे कह रहे थे।

चित्रा बिना कुछ बोले गीता के पास बैठी रही। जब गीता का मन हल्का हुआ तब वह विदा लेकर चली गयी। न कुछ बोली, न समझाया-बुझाया, न कुछ स्वयं ही हिली, बस आयी और चली गयी। इसका प्रयोजन वह खुद तक न समझ सकी।

उसी रात गीता को बुखार चढा और वह बेसुध-सी हो गयी। देवन के पास बच्चा टिकता ही न था, बस उसका मुह देख-देख रोता था।

चुप तब हुआ, जब माँ ने सागर को अपने अक में ले लिया।

अनेक विकृत, अपरूप, अस्पष्ट स्वप्नों को वह देखती रही। सुबह चार बजे उसका बुखार कुछ-कुछ उतरा। नीद आ गयी उसे। तब देखा, —अथाह, बहुत दूर तक फैला हुआ एक सरोवर है शान्त-गम्भीर, मानो उस पर कभी कोई लहर ही नहीं उठती। पूर्णमासी की रात है। जैसे ही चाँद उस सरोवर के बीचो-बीच आता है, तब किसी किनारे से सग-मरमर का बना हुआ एक विशाल भवन धीरे-धीरे तैरता हुआ, चाँद के ठीक नीचे आकर रुक जाता है। भवन के सूर्ने फर्श पर एक शिशु खेल

रहा है। खेलते-खेलते वह अबोध सरोवर में गिरने लगता है। फिर एका-एक अधेरा हो जाता है।

चीख के साथ गीता जग गयी। अपने सागर को बाहुओं में कस लिया। देवन सरहाने बैठ कर उसके माथे को सहला रहा था। गीता ने सकेत से उसे अपने पार्श्व में खींच लिया। सागर और देवन के बीच उसने अपनेको ऐसा कस लिया मानो अपने से उन्हें बाँध रही हो।

दिन को बुखार उसी तरह उतार पर था। आर्यादादा उसकी दवा कर रहे थे। न जाने क्यों उस समय बुखार सहसा फिर तेज हो गया, जिस समय पिछले दिन उसका आक्रमण हुआ था।

इस तरह अगले तीन-चार दिनों तक बुखार का दौड़ा जारी रहा। देवन ने दफ़्तर जाना छोड़ दिया। बार-बार उसके मन में यह भाव उठता था, कि गीता मर जायगी। ऐसी औरतें मर ही जाती हैं। ऐसी औरतें केवल करुण स्मृति के लिये होती हैं। इस भाव को वह अपने में बहुत दबाता था, पर ये भाव थे कि उतने ही सर उठा कर आने थे। तब देवन कल्पना भी कर बैठता था—तब वह अपने शेष जीवन को उसकी स्मृति में काटेगा। अपने ऊपर करुणा का एक ऐसा कवच धारण करेगा कि वह सब की समवेदना, सब की आसक्ति को निस्संग रूप से भोगेगा।

एक शाम को चित्रा आयी। गीता का बुखार उस समय उतरा-सा ही था। वह पलंग पर तकिये के सहारे बैठी थी। नीचे पालने पर सागर खेल रहा था।

चित्रा की दृष्टि जैसे ही गीता से मिली, उसकी आँखें अनायास ही डूब गयी। गीता मानो उसके स्वागत में उठी, पर वह उठ कर उठी नहीं, कटे वृक्ष की तरह चित्रा के पैर पर जा गिरी, और चिमट गयी।

चित्रा ने पूरी शक्ति से उसे खींचकर अपने अक में भर लिया और स्वयं कॉपने लगी। गीता के समक्ष वह अपनी हीनता और उसे अपनी अर्तुल श्रद्धा कैसे अर्पित करे ! पूजा के मार्ग पर तो गीता फैल



गयी। कितनी उल्टी बात हुई। फिर भी चित्रा रोई नहीं। उसने गीता की दृष्टि से अपने को जोड़ लिया। उसके जलते माथे को अपने अक में ले और उस पर अपनी कँपती हथेलियाँ रख, वह अपनी अन्तर की मौन पूजा से गीता को आश्वस्त करने लगी। गीता का बुखार, उसका सर-दर्द, उसमें से निकल कर मुझ में चला आये—इनका पात्र मैं हूँ—गीता नहीं। गीता और है—गीता अलग है—गीता का क्षेत्र यह नहीं।

चित्रा बोली, “जिन्दगी सब को हराती है गीता रानी, केवल उनसे हार जाती है, जो उसे कुछ महत्व ही नहीं देते।”

कुछ क्षण चुप रही, “मेरी एक बड़ी बहन थी। मामा की लडकी। बहुत अच्छे घर-वर से शादी हुई। मुहागरात पर, जब पति-पत्नी मिले, तो पति ने साफ कह दिया। मेरे जीवन में पहले से एक लडकी है, मैं तुम्हें दया दे सकता हूँ, प्रेम नहीं। वह मामा के पास लौट आयी। जहर खाकर मर गयी।”

फिर चुप हो गयी, “मरे क्यों? मरने का पाप अपने ऊपर क्यों ले? जिये, खूब जिये, जहाँ से मौत आती है, उसे दिखा-दिखा कर, उसके सामने सीना तानकर जिये।”

गीता के ओठों पर मुस्कराहट फैल गयी। पालने पर सागर खेलता खेलता सो गया था।

चित्रा बहुत सरल ढंग से बोली, बच्चों जैसी, “मुझे मेरा बचपन नहीं याद है, शायद बचपन नहीं था। होश है, कि मैं कन्वेन्ट में पढ़ने चली गयी और तुरन्त औरत हो गयी।”

गीता अपने सहारे उठ बैठी। बहुत हल्का हो गया था उसका जी। चित्रा जैसे कोई खुली हुई खिडकी थी, जिसने गीता के धुएँ को पी लिया। चित्रा की इधर-उधर की बातें, जिनमें न कोई सूत्र थे, न विधान, पर जैसे सब सगत थे। आकाश के बिखरे—बिखरे टूटे—आकृतिहीन धुएँ जैसे बादल, अपने में लक्ष्य-हीन दिखते हैं, पर उनका कहीं लक्ष्य होता है—अव्यक्त—अज्ञान।

धीरे-धीरे नित्य का समय बीत गया, उस दिन गीता को बुखार का दौड़ा न हुआ। वह चित्रा से कृतज्ञ हुई। देवन आया। भरी आँखों वह दोनों को देखता रहा। कभी दोनों को एकात्म करके, कभी एक को हटाकर और कभी दोनों को रख कर।

चित्रा चलने को हुई तो गीता उसे विदा देने के लिये फिर उठी। इस बार वह सीधी उठी रही, शरीर निर्बलता से कँप रहा था, पर वह मुस्कुरा रही थी। चित्रा ने देवन का दायाँ हाथ पकड़, उसे गीता के कंधे पर रख दिया, “सँभालो न। खड़े क्या हो?” यत्रवत उसने गीता को सँभाल, पलंग पर लिटा दिया। चित्रा ने अपने सत्य को भोले स्वर में कहा, “अपने दृष्टिकोण में जियो, अपने को तबाह न करो।”

देवन छू-सा गया, झुझला कर बरस पड़ा, “मुझे शिक्षा देने मत आया करो।”

कई क्षण चित्रा इस प्रतीक्षा में खड़ी रही कि देवन कुछ और बर-सेगा, पर वह सुलग कर रह गया।

गीता को नमस्ते कर जैसे ही वह मुड़ी, उसकी आँखें भर आयी। जीने पर अकेली उतरती हुई आगे का रास्ता देखने के लिये ज्यो-ज्यो वह आँखों को सुखाती जा रही थी, आँखें उतनी ही गीली हो रही थी।

जीने के बीचो-बीच वह खड़ी हो गयी। तब तक गीता की स्फुट बोल सुनायी दी—‘जाओ देवन ! .. उसे पहुँचा आओ न ! कैसे अकेली जायेगी ?’

तेजी से चित्रा सड़क पर उतर आयी। देवन तब तक पास चला आया था। दोनों चुपचाप बढने लगे। पास के चौराहे पर चित्रा रुक गयी, और एक ऐसी नयी दृष्टि से उसने देवन की ओर देखा कि वह स्वयं सहम गयी। पर लक्ष्य पर कोई अनुभव न हुआ।

चित्रा ने उस क्षण निश्चित कर लिया, उसे वह पाप उगलना होगा जो भीतर-ही-भीतर अमृत से विष बन गया है।

तेजी से उसने देवन को नमस्ते किया और उसी क्षण वह आगे बढ़

गयी। कुछ दूर बढ़ कर उसने देखा, पीछे-पीछे देवन अब भी आ रहा था।

“क्यों आ रहे हो ?”

“गीता की इच्छा है।”

एक गहरी दृष्टि से चित्रा उसकी आँखों में देखती रही।

कहना से बोली, “कितना शुभ होता अगर तुम गीता की सब इच्छा समझते ही !”

एक क्षण रुक कर व्यंग्य से कहा, “मुझे पहुँचाने चले हैं। जैसे रास्ते में मेरा हरण हो जायगा ! रात-रात भर क्लब में नाचने वाली, न जाने कितने पुरुषों में घूमने वाली को कुछ...।”

देवन ने बीच ही में डाँट दिया, “चलती हो कि सड़क पर लेक्चर पिलाती हो !”

चित्रा आँसुओं को पी गयी। स्वर बदल कर बोली, “तुम्हारे आत्म-सम्मान की भावना कहाँ खो गयी ? ओम के घर तुम मुझे छोड़ने जा रहे हो न ? ओम.. ओम ..ओम !”

कँप कर उसका स्वर टूट गया, फौरन सम्हाल लिया, “अब भी ओम का घर तुम्हें प्यारा है ?” एकाएक उसकी वाणी कहण हो आयी, “दूध की धुली, निष्पाप पत्नी घर बीमार है। मुझे पहुँचाने चले हैं।..”

देवन बिना उसे देखे, चौराहे की ओर बढ़ने लगा। चित्रा भाग कर रोकशे पर बैठ गयी। वह बार-बार रोकशे के पीछे से देखती रही, जैसे उसकी दृष्टि में देवन अब भी उसका पीछा कर रहा हो।

थोड़ी देर जगकर ओम सो गया था। चित्रा को रोना आ रहा था। वह ओम से छिपाये पड़ी थी। उठी। बगल के कमरे में गयी और रो पड़ी। जब जी भर गया तो देवन-गीता को जैसे अपने सामने रख वह धर्म-स्वर से कहने लगी,—मैं सब के लिये बुरी हो सकती हूँ, सब कुछ बन सकती हूँ, यहाँ नहीं ! यहाँ नहीं ! तुमने मुझे प्यार से भी महान सत्य कहना का दिया है, मैं उसके आगे झूठ नहीं बनूंगी। जो विष मेरा है, उसे मैं ही पीऊँगी। मैं औरत कहाँ हूँ, उसकी छाया

हूँ । इसे मैंने तब जाना, जब मैंने गीता को देखा । गीता सत्य, मैं छाया । वह पत्नी, मैं रोमास । पत्नीत्व में रोमास न जोड़ो देवन । वह बाँधेगी, मैं तोड़ूंगी, फिर अन्त क्या होगा ? शून्य, अपरूप, घृण्य । ओम मुझे, कभी भी त्याग देगा, हम में आधार नहीं है । तुम-गीता अलग नहीं हो सकते, क्योंकि गीता जो है, वह भूमि है, भाव है, आदर्श है, पाथेय है ।

उसके ओठ भावों में ठीक उसी तरह कँप रहे थे, जैसे, चित्रा को याद है, जब वह कन्वेन्ट के जूनियर कैम्ब्रिज में पढ़ रही थी, बाइबिल-पाठ के समय उसके ओठों पर एक अव्यक्त कपन हुआ करती थी ।

गीता और देवन



माँ मुझे बनारस ले आयी है—मेरे अतीत से मुझे जोड़ने । उसकी दृष्टि से मेरे अतीत में मेरा बचपन था—सुखद-गान्त-मधुर-स्वस्थ और आकर्षक । मेरे अनुसार वह सब भ्रम है, वह एक ऐसा भाग था, जो अपूर्ण, अस्वस्थ और अविकसित था, आज की दृष्टि से । ‘आज’ मुझे ससुराल में मिला, ‘गत’ मुझे पीहर में दिखा ।

माँ मुझे देख कर प्रायः रोती है । अपना माथा ठोककर कहती है, ‘हाय ! मेरी गित्ती को क्या हो गया ? कैसे, क्यों पीली पड़ गयी ? अट्टे हुए दूध—जैसा रंग था, राम ! क्या मार गया ? जब वह माँ हुई थी, मैं दो बार लखनऊ में उसे देख आयी थी—सूरज मुखीजैसी खिल आयी थी मेरी बेटी । सीक से कोई छू दे तो खून निकल आता । कहाँ उड़ गया सब ? मैं क्या खिलाऊँ ? किस डाक्टर-वैद्य को दिखाऊँ । मुआ । कोई बीमारी ही नहीं बता पाता । और यह लाडली जो है, यह भी तो नहीं कुछ बताती । हँसती है तो बस हँसती ही चली जाती है । उल्टे मुझे ही बेवकूफ बनाती है कि मुझे क्या बीमारी है ? दोनों

समय पेट भर खाती हूँ, साँस भर पचाती हूँ, नीद भर सोती हूँ । तो, बीमार कहाँ हूँ । सब तेरा वहम है माँ ।'

पर माँ है कि रोती ही रहती है—अकारण, अलक्ष्य । जैसे दुनियाँ की माँ का यही काम है । काम ही नहीं, मानो एक सत्य को पकड़ना है—बेटी हो तो भट से दूल्हन बनो, भुक जाओ—दूल्हन हो तो फौरन माँ बनो, देर लगी तो बस शका-चिन्ता । तब और भुको, और ! फिर माँ बन जाओ और माँ बनकर सदा रोओ ।

मैं माँ को क्या बताऊँ । कि मैं कहाँ बीमार हूँ ? मुझे स्वयं भी तो नहीं पता है । नहीं तो मैं ऐसी क्यों लगती, कोई उपाय न कर लेती ।

पिछले दिन माँ ने मुहल्ले की दायी को बुलाया था । उसने अजीब हाथों से मेरी अँतरी-पँसली को दबाया था । मुझे इस मूर्खता पर हँसी आयी थी । तभी मिसेज घोष की वह बात याद आयी—नर्स—मिसेज पाल सिंह के बारे में । अजीब है वहाँ के लोग । कोई भी मध्यम मार्गी नहीं है सब-के-सब चरम सीमा के है ।

बनारस क्यों नहीं उमी तरह हो जाता । यह गली, मेरी यह जन्म-भूमि चौड़ी खुली हुई सड़क क्यों नहीं हो जाती ?

अब बनारस पसन्द नहीं आता । जब इसे पसन्द करने को होती हूँ तो मन ही नहीं होता । रुचि मना कर देती है । बनारस क्या है, बस गलियाँ-ही-गलियाँ है—गलियाँ जुड़ गयी है—जहाँ जीवन बँध कर चक्करो में घूमता हुआ बीत जाता है । और यह गदौलिया की गली तो मुझे और भी नहीं पसन्द है । इसमें से कभी कोई कार तक नहीं गुजरी है ।

पर मुझे यह अपना जन्म-घर बेहद पसन्द है—विशेषकर इसका आँगन । अब आँगन की अपेक्षा छत का अपना कमरा भी नहीं अच्छा लगता । रहती उसी कमरे में हूँ, लेकिन पहले की तरह नहीं, पहले को उलटकर ।



और सोती हूँ माँ के कमरे में । उस कमरे में तो अब न जाने क्यों बहुत बुरे-बुरे स्वप्न दीखती हूँ । सागर तो सोते-सोते में चीखकर रो पड़ता है ।

एक दिन पापा ने बहुत दुलार कर लाड से पूछा—गित्ती ! तुम्हें क्या हो गया है गित्ती ? कई बार उन्होंने पूछा । माँ भी आ गयी । तब मुझे एकाएक ऐसा लगा, कि यहाँ मेरे देवन की मान-हानि है । मेरे प्रति उसकी सच्चाई और पति-पत्नी-सम्बन्ध के प्रति अविश्वास है । मैं छू गयी । मन उबल पड़ा । ठीक तो हूँ । क्यों मेरे मन में बरबस यह विषाक्त भावना भरी जा रही है कि मैं बीमार हूँ, अस्वस्थ हूँ । ऐसा कुछ होता तो देवन मुझे यहाँ आने न देता ! कीमती-से-कीमती दवाइयाँ हुई होती । अति आधुनिक उपचार हुए होते । मेरे लिये देवन द्वारा क्या नहीं हुआ होता !

तीन दिनों से मेरे सर में दर्द हो आता था । बहुत रात तक माँ मेरे सर को दबाती रहती, पर नीद नहीं आती थी । एक रात मुझे अपने पर हलाई आ गयी । माँ के अक में अपने सर को गडाकर मैं सिसकने लगी । न जाने क्या बे-सर-पैर की बक गयी—मुझे स्कूल-कालेज में क्यों नहीं पढाया ? प्राइवेट क्यों पढने दिया ? घर में बाँध कर रखा था, न कही आने देती थी न जाने । न घूमना न कही उठना-बैठना । दिन-रात चरित्र-चरित्र चिल्लाती थी, पापा आर्यसमाजी और तुम भक्तिन ! दुनिया आगे चलती है, तुम लोग पीछे ! वही सीधे पल्ले की साड़ी, वही सावित्री-सत्यवान के किस्से !

सच, मैंने तो माँ को चिढ़ाने के लिये वैसे ही कह दिया था । कोई भाव थोड़े थे उसके पीछे, न कोई सत्य ही था । पर माँ ने उसमें न जाने कैसे भाव ढूँढ लिये । पापा से कह दिया । उन्होंने सत्य जोड़

लिया। मुझे एक दिन उन्होंने बुलाया। कहने लगे—‘गित्ती, जब तू बच्ची थी, कोई रंगीन चीज कुछ भी क्यों न हो—आग-फूल-साँप, सब के लिये तू टूट पड़ती थी। इसका स्वभाव न गया। लखनऊ रंगीन शहर है। रंग आकर्षक होता है, मोहक नहीं। तू इसे अब भी नहीं समझती।’ फिर मुस्करा कर बोले, ‘ससुराल के आगे मायके की क्या मान्यता। यही तो आधुनिकता है। जो गत है, उसके प्रति गौरव नहीं, जो अनागत है, उसके प्रति आस्था नहीं और जो आगत है—बस वही सब कुछ है। व्यक्ति के अह से भी भयानक, आज, काल का अह है।’

कहकर पापा जी हँस पड़े। मैं भागी वहाँ से।

सरोज जो थी—मेरे मामा की लड़की, प्रतापगढ़ में अध्यापिका हो गयी है। विवश होकर उसके प्रति ने अपनी दूसरी शादी कर ली है। सरोज से तब से भेट भी न हुई। कभी पत्र-व्यवहार भी न हुआ। उसकी बेहद याद आती है, पर उससे मिलने को जी नहीं होता। डर-सा लगता है।

मेरे अक के दूध के सम्बन्ध में माता जी ने जब पूछा था, मैंने कह दिया था—शुरू में हुआ था, बाद में अपने-आप बन्द हो गया। बाबा विश्वनाथ का उसने मुझे कई दिन दर्शन कराया। लोलारक कुट को दो बार भँकाया। भगवान् ! इन बातों को अगर देवन सुन पाये तो क्या हो ? मुझ में भी अभी तक इतनी हिम्मत न आ सकी कि मैं मुह खोल कर कह दूँ कि मुझे इन पर विश्वास नहीं है। मैं वह गित्ती नहीं जो पहले थी। जो लखनऊ के स्तर से बहुत पीछे थी। मैं अब वह गीता हूँ—जो अपूर्व है, जो अपने से बहुत आगे बढ़ गयी है। देवन के पाथेय से जो बिल्कुल नये, असीम क्षेत्र में पहुँच गयी है। उस क्षेत्र ने मुझे नयी दृष्टि दी है। मेरे अभावों को बतला दिया है।

पिछले इतवार को एकाएक बीरू ने बताया कि सरोज दीदी आयी । मैं टाल गयी । सरोज के नाम को पीने लगी । पर जैसे उसका नाम इतना लम्बा और ज्यादा था कि मुझसे निगला ही न गया ।

सरोज मुझसे मिलने आयी । खबर पाते ही मैं दौड़कर ऊपरी कमरे में चली गयी । सो जाने का स्वाग भरकर मैं वही चुपचाप, जैसे बेखबर सो गयी । मैंने अपना सारा अंग छिपा लिया था । सरोज ऊपर आयी । कुछ क्षण मेरे पास खड़ी रह कर चली गयी । उस क्षण मेरी घमनियो में इतनी तेजी से रक्त दौड़ रहा था कि मैं कितनी रक्तवाली हो गयी थी । जब वह चली गयी, तब मुझे लगा, वह सारा अतिरिक्त खून साँस बन गया और मेरे फेफड़े उससे कस गये । वह सब क्या था, क्यों हुआ ? मैं अब तक न समझ सकी ।

सुबह- शाम जब माता जी अपने भगवान की आरती उतारती हैं—और मैं उस पूजा के सामने खड़ी होती हूँ, तब मुझे बरबस चित्रा की याद आती है ।

वह भगवान की प्रतिमा बनती है । बाँह फैलाकर वह मुझे जैसे कुछ देती है—सतत देती रहती है । श्रद्धा में मेरी आँखें मुद जाती हैं । प्रणति में मैं झुकी रह जाती हूँ ।

साँप में से अगर विष निकल जाय तो शायद साँप ऐसा प्रभुविष्णु मोहक—स्तुत्य जीव ससार में और कोई न हो । चित्रा मोहक है—स्तुत्य है—प्रभुविष्णु है । उस में कही भी विष नहीं है । विष उनमें है जो उन आँखों से उसे देखते हैं ।

न जाने क्यों, चित्रा को बुआ कहने की इच्छा होती है । पर मैं उसे कभी ऐसा नहीं सोचूंगी । क्योंकि बुआ के पीछे जो मेरे मन में एक चित्र बनता है वह अजीब कारुणिक है—विधवा, अपकृत, पर जिस में ऐसी अतुल उदारता, स्नेह-बलिदान का स्पर्श ; जो किसी से भी न समझा गया हो ।

जब सागर एक महीने का था, देवन ने निश्चित किया था, वेबी

की पहली वर्षगांठ 'डी हेविन' में इतनी शानदार ढंग से मनायी जायगी कि लोग सोचेंगे ।

लोग तो नहीं, केवल मैं आज सोचती हूँ—वह सब भावुकता थी—स्वप्न थे जिनके बहुत ही अस्पष्ट आधार थे । देवन ने माँ से वचन ले लिये थे कि बेबी अपनी वर्षगांठ के पहले लखनऊ चला आयेगा । देवन बनारस आयेगा और हमें लिये हुए लखनऊ लौट जायेगा ।

मेरे सागर की वर्ष-गांठ हो गयी । बीती नहीं, मनायी गयी । बीतेगी क्यों, सागर अपनी माँ के आँचल में जो है । जब तक धरती रहेगी, सागर रहेगा ही—बल्कि सापेक्षिक है दोनों ।

चित्रा का उस दिन मेरे सागर के नाम एक पार्सल आया था—कपड़े थे, बिस्कुट-टाफी थे, अँग्रेजी खिलौने थे । कार्ड बोर्ड की ग्यारह पृष्ठों वाली एक रंगीन पुस्तक थी और सब के बीच अमलतास के फूलों का एक गुच्छा था ।

देवन को वर्षगांठ की तिथि भूल गयी होगी । दार्शनिक जो है । लग गया होगा किसी और धुन में ! जहाँ लग जाता है, वही का हो जाता है । मुझ में अपनी रुचि-स्तर पर लाने के लिये विकास दे रहा था, तो अपने को भूलकर । कितना उदार है देवन ! मैं ने तो वहाँ देखा है, कौन किसको लेकर आगे बढ़ता है । बढ़ने के लिये सग तो बल्कि छोड़ देते हैं लोग—निस्सग बढ़ते हैं । अगर सग छूटता नहीं देखते, तो उसके लिये भी वहाँ अनेक उपाय हैं । यह सत्य, अपनी रुचि, अपने स्तर के साथियों के प्रति है ।

मैं वह देवन हूँ, जो अपने में से थककर बाहर आ निकला हूँ । इस समय 'डी हेविन' शान्त है—कोई नहीं है यहाँ ! न बेबी, न गीता,

न कोलाहल भरे उसके ससार की थकान । बस, मैं हूँ केवल—मैं और मेरा शरीर । शरीर में बोध नहीं है, क्योंकि मैं उस में से निकल आया हूँ । मेरे किनारे का वातावरण ठीक उस शान्त तालाब जैसा है जिस पर अभी-अभी सध्या का सूर्य डूबा है । तब उसके नीर-तल पर एक घोघा निकला है—अपनी खोल से भी बाहर, जैसे एक ही सत्ता के दो रूप ।

वह मैं हूँ, वह मेरी गीता है और वह बेबी है—नहीं, हम दोनो है, नहीं, नहीं, वह नन्हा सा 'स्नेल' है, हम उसकी खोल है, जिसकी उस 'स्नेल' से अलग कोई सत्ता नहीं है । वह नन्हा-सा जीव ही सब कुछ है, दिशा, गन्तव्य, जीव्य—सब कुछ ।

एक दिन जब कोई धीमर आयेगा और तालाब में जाल डालेगा, तो क्या होगा ? उस नन्हे-से जीव का तो खेल होगा और हमारी...?

हम उस से अलग हो जायेंगे । हम खोल नहीं हैं मनुष्य हैं—एक नर हैं, एक मादा, एक पुरुष, एक प्रकृति, एक भोगी, एक भोग्य । हम फिर से बहेगे, फिर से मिलेंगे और ऐसा मिलेंगे कि हम में कोई न आयेगा ।

पर ऐसा होगा कैसे ? कभी नहीं हो सकता । धर्म तो रहेगा ही, प्रकृति तो रहेगी ही, किसी भी रूप में रहे ।

अकेले मैं सहन न कर सका, तब मैं अपने में जा मिला । एक-पर-एक कई सिगरेट जलाता रहा । मुझे प्यास लगी, चाय की सुधि हुई । आफिस की याद आयी । 'डी हेविन' से निकल भागने का जी हुआ, जैसे कोई स्वप्न में भागता है—वह दौड़ता है पर शरीर छटपटाता ही रहता है । और दौड़ का अन्त क्या होता है—कुछ नहीं, अडोल—स्थिर, वही-का-वही ।

यह क्या हो गया ? विवर्त में एक तिनका आ गया । था तो तिनका पूर विवर्त को ही तोड़ गया, खुद न टूटा, उसे ही बहा ले गया ।

क्या किया गीता तूने मेरे साथ ? क्यों मुझ में आयी तू ? तुझे तो कही और जाना चाहिये था । किसी और को तू बहा ले जाती ।

मुझे क्यों ? मैंने क्या किया था तेरे साथ ? क्यों तूने मुझे छूकर भर दिया ? इस द्वन्द्व, इस चिन्तना, इस भाव को क्या करूँ ? सच, मैं तो मर जाऊँगा घुटकर इन में । मुझे मेरी जमीन चाहिये, तेरा आकाश लेकर मैं क्या करूँगा ?

मैं तुझे कुछ और देता हूँ, पर उसे तू लेकर कुछ और बना लेती है । तो, शक्ति तुझ में है, मुझ में नहीं । जैसे मैं दिवालिया होकर कुछ बेने बढता हूँ, तो वह भूठा हो जाता है । धनी तू है, क्योंकि जो तू बेती है, वह सत्य हो जाता है और वह सत्य तुझ पर लौट भी जाता है—जैसे वर्षण की छाया, जो धूप में चमका कर किसी दीवार पर डाली जाती है । तेरा वेबी, तेरा सागर, तेरा सत्य !

इसे मैं क्या करूँ ?

एक रात मैंने अपने को बाँधा । ऐजिलो को लिये हुए मैं अपने जीने पर चढ़ गया । जैसे दरवाजे पर गीता तू मिली, गोद में अपने सागर को लिये हुये । मैं लौट पडा । ऐजिलो को विदा दे दी ।

न जाने कहाँ चित्रा रहती है, मिलती ही नहीं । जब मिलती भी है तो बस चुप रहती है । कुछ बोलती है तो बार-बार यही—‘बनारस जाओ, गीता को बुला लाओ । चिट्ठी दी ? सागर की वर्षगाँठ आने वाली है । गीता आयेगी, तभी मैं तुम्हारे घर आ सकूँगी ।’

यह सब क्या है ? ये नियम क्यों बाँधे जा रहे हैं ?

एक दिन आया ने कहा, बाबूजी, बहू को जल्दी लिवा लाइये । मैं सोचने लगा, मेरे स्वार्थ के लिये और लोग क्यों चिन्तित होते हैं ? सभवतः यह इसलिये होता है कि मनुष्य, मनुष्य को कही भूलने नहीं देना चाहता । उसे सदा उसकी आवश्यकताओं की याद इसलिये भी दिलाई जाती है कि वह उसकी कमी महसूस करे ।

मैं देखता हूँ, आया रोज गीता के लगाये हुये तुलसी के पौदे में पानी

डालती है। बहुत ही हरा-भरा पौदा है। इस में फूल भी आये हैं, पर इसमें फल क्या लगेंगे ?

पिछले कई दिनों में रोज सध्या को सोचता हूँ कि रात की गाड़ी से बनारस जाऊँगा, गीता को ले आऊँगा, पर मन जैसे कुछ पकड़ता ही नहीं। मन मेरा नहीं है। उसकी सत्ता ही मुझ से अलग है। वह फिसलता है और मैं उसे पकड़ना ही भूल जाता हूँ। गीता चित्रा बन जाती है, चित्रा गीता हो जाती है और मैं सत्ताहीन हो जाता हूँ। ये सड़के मुझे स्टेशन नहीं ले जाती, भँवर की तरह घूमने लगती है, तब मेरा क्या दोष ?

तब मैं रात को अक्सर स्वप्न देखता हूँ, बनारस में कुमारी गीता रानी की शादी हो रही है। मैं निमन्त्रित हूँ। मैं जाता हूँ। जो कुछ मैं उसे उपहार देने लगता हूँ, वह सब देते ही देते मेरी आँख खुल जाती है। फिर मैं स्वप्न की बलबती लज्जा से गड़ जाता हूँ। प्रायश्चित्त से मेरा मुह रँग उठता है। तब मेरी हिम्मत पस्त हो जाती है कि मैं किस मुह से गीता के यहाँ जाऊँ। गीता बड़ी है, बहुत पवित्र है, एक अनोखी शक्ति है उसमें। उसका अपना धरातल है। मैं उसे अपनी दृष्टि का विकास देता रहा, एक स्तर पर उसे उठा रहा था। आज मुझे सत्य लगता है कि वह बहुत आगे बढ़ गयी। उसमें इतना विकास आ गया कि मुझे सब कुछ पिछड़ा-पिछड़ा और हीन-सा लगता है।

मुझ पर कितना उपकार है उसका ! कितनी कृतज्ञता के बोझ से मैं लदा हूँ। जो कुछ मैं कह देता था, सकेत या इच्छा ही बनाता था, गीता के लिये वही पूजा हो जाती थी। उसने मेरे सन्तोष, मेरे अह के मनाने में अपने को कभी न उभरने दिया। जैसे मेरे बिना वह अपनी सत्ता की कभी अनुभूति ही नहीं करती। यह प्यार नहीं है, आज मैंने समझा, यह सब समझौता है। ये सब परिणाम हैं। विकल्पहीनता है सब।

तभी मैं गीता को नहीं बाँध पाता। बाँधने दौड़ता हूँ तो अक में

कुछ और ही आ जाता हैं। आँखें न जाने कहाँ चढ जाती हैं। घुट जाता हूँ।

अब मैं कल ही गीता को अपने पास बुला लाऊँगा। उससे दूर रह कर आज मैं उसे समझ पाया हूँ। मैं अब उससे स्पष्ट कह दूँगा—गीता ! मुझे प्यार चाहिये। वह प्यार, जो समान धरातल पर उतर कर दिया जाता है, जिसमें द्वन्द्व होता है, विरोध होते हैं। जहाँ 'नहीं' अधिक कहा जाता है, अस्वीकृति बहुत होती है। मुझे समझौता नहीं चाहिये गीता। मैं आज से इसे घोर अपराध समझूँगा। इसकी अपेक्षा, नगी घृणा मेरे लिये श्रेयस्कर होगी।

प्यार के लिये एक इकाई होती है, एक ढहाई—एक ही से कुछ नहीं होता। गीता ! तुम मुझ से अलग बनो। अपनी निरपेक्ष सत्ता बनाओ—मजबूत—अनोखी, जो सब को प्रभावित कर दे, मुझे तो रौद दे। मैं उसी को प्यार करूँगा, जो मुझे हराये। जो मुझ से हार जाये, मैं क्या करूँ उसके लिये ! उसे तो दया ही दी जा सकती है।

दया और समझौता, इन दो भूमिकाओं में हम दब जायेंगे। मुर्दा होकर जीना पड़ेगा। ऐसा नहीं होने दूँगा। सागर बीच में आ गया है तो क्या ? हम मिलने के लिये उसे पार कर लेंगे। सागर पर भी तो पुल बाँध लिया जाता है।

बेबी नर्सरी स्कूल में भर्ती हो जायगा। गीता इसी युनिवर्सिटी में एल० एल० बी० पढ़ेगी। मैं उसे महिला छात्रावास में भी भर्ती करा सकता हूँ, फिर उसकी एक ऐसी अप्रतिम सत्ता बनेगी जिसे मैं जीतने चलूँगा।

जो सीधी है, जो बाहर भीतर एक-सी है, पूर्णतः अपनी है, हर-क्षण प्राप्य है, जिसमें एक भी ग्रंथि नहीं है, उससे क्या किया जाय ? उसे न जीतने में आकर्षण है, न उसके प्यार के आग्रह में शक्ति।

गीता अपने साथ न सितार ले गयी है, न मेरे बनवाये खरीदे कपड़े। अपनी सारी किताबें भी छोड़ गयी हैं। केवल अपने सागर को ले गयी हैं।



केवल उसी की याद में डूब जाने के लिये, बहुत दिनों के बाद आज मैं शराब पीऊँगा । बेहोश कर लूँगा । तब मैं अपने भी सत्य को पहचानूँगा । किसी होशियार से कहूँगा कि वह नशे की बेहोशी में मुझे पकड़ ले, मुझे नजदीक से देख ले । और जब मैं होश में आऊँ तब वह मुझे 'मेरा' बता दे । शराब पीने के बाद कोई झूठ नहीं बोलता । चित्रा को होशियार के रूप में रखूँ, तो केवल वही मेरे प्रति झूठ नहीं बोलेगी !

न जाने कैसी है तू गीता । चित्रा को भी तो तू प्रभावित कर गयी । पर मुझे क्यों नहीं करती ? सब झूठ है । सब झूठ बोलते हैं । छल करते हैं ।

इस बार देवन को बनारस बिल्कुल न अच्छा लगा । गदौलिया की वह गली तो इतनी बुरी लगी, जैसे दूर-देश का कोई पिछडा हुआ गाँव । उस घर के प्रति उस में न जाने क्यों एक दबी हुई उपेक्षा, अव्यक्त भुभुलाहट उठी ।

एक सौतेली माँ देवन की थी । उसके विष-चक्र में, देवन न आ सका, बल्कि 'उसे तोड़ कर वह अपने आप में स्वतंत्र हो गया ।

एक सौतेली माँ गीता की भी होनी चाहिये, वह जड है तो क्या ? जड में तो और शक्ति होती है, क्योंकि किसी के प्रति उसमें राग नहीं होता । यह गली, यह घर, यह बंद आँगन, इनकी एक सत्ता है, और यही सत्ता गीता की सौतेली माँ है—जिसके दो हाथ हैं—एक माँ के रूप में, एक पापा के रूप में ।

जो कुछ देवन के मन में था, उसे कोई न जान सका, सम्भवतः देवन भी नहीं । गीता के स्वास्थ्य को बिगडा देख, उस में समवेदना न जगी, क्रोध जगा । इस क्रोध को तब वाणी मिल गयी, जब गीता के

पापा-अम्मा उस से शिकायत करने लगे, कि गीता को क्या हो गया ? किसी डाक्टर को नहीं दिखाया ? गीता को अभी लखनऊ न ले जाओ, कुछ दिन यहाँ और रहने दो ।

एक-एक करके देवन सब से लड़ गया । जैसे सब को अप्रसन्न कर लेने ही में उसको शान्ति थी । कोई बहुत दिनों का पुराना, भावों का बैर था, जो प्रतिकार की अपेक्षा करता था । देवन विवश था, अज्ञेय था, और जैसे वह प्रतिकार का भाव उसे मात्र साधन बना कर स्वयं कर्त्ता हो रहा था ।

चूँकि माता और पापा जी गीता को बनारस रोक रहे थे, इसलिये अब देवन उसे अवश्य लखनऊ ले जायगा । उसका मन तर्क दे रहा था—गीता की अस्वस्थता का जिम्मेदार देवन नहीं है, उसका सागर है, जिस सीमा से निकल कर उसे गीता मिली थी, गीता को उसने अपनी अनुरूपता दी थी, उस गीता को वह उस गर्त में नहीं छोड़ सकता ।

गीता के न माँ है, न बाप, अकेला देवन है—यह गीता का विश्वास होगा । तो इस विश्वास को भोगना चाहिये । और इसका सुन्दर-तम भोग वही माँ-बाप के सामने है ।

जो भोगना ही है, उसे अपने अनुरूप बना कर क्यों न भोगा जाय ?

पर इन भावों से देवन में कोई चित्र नहीं बनता था, वह बलात् एक चित्र की कल्पना कर लेता, और उसी चित्र के सहारे वह यहाँ तक पहुँच जाता था, कि गीता के माँ-बाप किसी तरह उसके विरोध में आते तो वह एक अनोखा परिणाम दिखाता—अनोखा । प्रीतिकर-बहुत सुन्दर ।

उस अप्रीतिकर भाव में गीता को लखनऊ ले आना, देवन को सुखकर लगा । 'डी हेविन' की गृहस्थी फिर प्राणवान हुई । त्रुलसी तैले दीपक

पौदा उस शरीर में है, जिसकी जड़ उस शरीर की आत्मा में है। गीता !  
एक फूल ! फूल का पौदा, पौदे की जड़, शरीर और आत्मा ।

देवन बारजे पर देखने लगा । पास चला आया, जहाँ देख रहा था,  
उसी पर दायों पाँव रखकर सड़क की ओर निहारने लगा ।

रात को जब गीता सो गयी, देवन बहुत आहिस्ते से उठा । दायीं  
हथेली में तेल लिये आया, झुककर गीता के सर में उसने डाल  
दिया । माथे को बायीं हथेली से ढके रहा और सीधे हाथ की उँगुलियों को  
बेहद ढीली कर बिखरे बालों में घुमाने लगा ।

गीता की आँख खुली, पर उसी क्षण अज्ञात आँसू से भर कर वे  
अपने-आप ढँप गयी । और उसी तरह बन्द रही । गीता के जगे हुये दोनों  
हाथों ने देवन के झुके सर को बाँध लिया, और उसे पलँग पर ला गिराया ।

देवन ने बहुत धीरे से कहा, “गीता तुम बीमार हो न !”

गीता की पलके हिली, और आँसुओं में पिघल गयी ।

पर वह क्षण ही भर में हँस आयी ।

“नींद आयी नहीं थी क्या ?” गीता ने पूछा ।

“तुम बीमार हो गीता । लगता होगा । शायद मेरे कारण तुम उसे  
अपने पर लगने नहीं देती । पर बीमारी तो लग ही जाती है—न इस से कोई  
बच सकता है, न इसे छिपा सकता है ।”

“ठीक हो जाऊँगी, इसमें क्या रखा है !” गीता मुस्करा आयी,  
“पहले की तरह मोटी नहीं हूँ, यही तो अभाव है । देख लेना, फिर उसी  
तरह मोटी हो जाऊँगी ।”

“तुम्हारे वश में है क्या ?”

“हाँ ... ।”

“तो ऐसी हो क्यों गयी ?”

बड़ी देर तक गीता चुप रही। कभी आँखें बन्द कर लेती, कभी खोल कर एकाग्र दृष्टि से कहीं देखने लगती, जैसे दृष्टि के सहारे अपने की कहीं टाँग देती और उसे ही देखती। ऐसी देखती कि दृष्टि ही वाणी बन जाती, नयन ही श्रवण हो जाते।

“क्यों हो गयी ?... तुम्हीं जानो।”

यह कह कर गीता ने अपने को देवन के अक में छिपा लिया। वही से दर्बे स्वर में बोली, “तुम्हें चिन्ता हो गयी, अब मैं अच्छी हो जाऊँगी।” बहुत देर तक दोनों चुप थे, जैसे मौन ही उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम था। गीता ने देवन के मस्तक को छूते हुये कहा, “अब सो जाओ।”

बिना किसी प्रसंग के देवन बोला, “सुना है कि नहीं ? ..... चित्रा देहरादून गयी है। जिस दिन मैं बनारस गया हूँ, उसी रात।”

गीता इस सत्य को घूट गयी, उसे ओठ पर नहीं आने दिया। और भी शक्ति से अपने में देवन को जकड़ लिया।

बाँधी हुई कहने लगी, “चलो, कुछ दिनों के लिये कहीं टहल आया जाय। मुझे दक्षिण-यात्रा से न जाने क्यों बहुत मोह है, चलोगे ? बड़ी साध है मेरी।”

“पहले अच्छी हो जाओ। खूब अच्छी, उसी तरह, पहले की भाँति।”

“उस से ज्यादा नहीं ?”

दोनों हँस आये।

बारजे पर चाँदनी उतर आयी थी। सम गति से हवा चल रही थी, सामने, बिजली के तार तो स्थिर थे, पर उसके ही समानान्तर दूसरी ओर के तार रह-रह कर कँप उठते थे।

दोनों बारजे के पास आ खड़े हुये। गीता दोनों हाथों को बरसती हुई चाँदनी में भिगो रही थी। उल्लास से भरी हुई वह बारजे पर झुक गयी, जैसे वह अपने को सम्हाल नहीं पा रही थी। देवन उसके पार्श्व में खड़ा हुआ उस तार के खभे को देख रहा था, जिनके सर पर खिचे हुये सब तार कँप रहे थे।

आफिस में, मई का वेतन बाँटकर, जून की चौथी तारीख को दोनों नैनीताल चले गये। यद्यपि वर्षा आरम्भ हो चुकी थी वहाँ। एक-एक पत्थर घुल कर स्वच्छ हो गये थे। हवा में प्रकृति के सौरभ का भार आ गया था।

गीता अपने जीवन में पहली बार पहाड़ आयी थी—सो भी नैनीताल और वह भी अपने देवन के साथ, उसी की इच्छा से। अक भरा है, नयन गीले हैं, स्वप्न साकार हैं, और चलने के लिये अपना राजमार्ग भी है—और क्या चाहिये।

घूप, वर्षा, बस्ती, पहाड़ ताल या घाटी, गीता कहीं न थकती थी। किस्ती में घूमती हुई, ताल से, जब वह पहाड़ की ऊँची-नीची चोटियों पर बस्ती देखती, तब उसके मन में अमित-उत्साह से भरी एक साध उठती थी—आगे-आगे देवन हो, बीच में सागर और पीछे-पीछे गीता हो, तीनों इन उचाइयों पर पाँव रखते हुए चले, चलते जाँय।

दोनों एक दिन मैटनी शो देखने गये। पूरा हाल भरा था। जिस पक्षि में उन्हें जगह मिली, उस परिधि में मुख्यतः स्त्रियाँ अधिक बैठी थी। जो पुरुष भी थे, वे स्त्री के साथ थे। पर उस समूची परिधि में सागर के अतिरिक्त कोई शिशु न था।

बैठते ही देवन को अच्छा न लगा। वह एक-एक की दृष्टि निहारता था, और तब तक निहारता रहा, जब तक चित्र न आरम्भ हुआ।

बीच ही में वह हाल से निकल आया। सागर का रोना-हँसना ये दोनों पक्ष उसे दश कर गये। वह आया को लाना क्यों भूल गया? वह सागर को लिये रहती। और देवन-गीता पहाड़ पर विहार करने वालों की तरह असीम सुख भोगते। पर सागर है कि हरदम बीच में रहता है। यह कौन है? क्या है? उपयोगिता क्या है? शायद यही कि सागर सदा बहता रहे और उसके दोनों किनारे उसकी सजा को बस चरितार्थ करते रहे।

नैनीताल से लौटते समय गीता ने देवन से प्रस्ताव किया कि वे पहले बनारस चलेगे, तब लखनऊ। वहाँ पापा और अम्मा मुझे देख लेंगे कि अब मैं कैसी हो गयी हूँ, देवन ने किस सम्मोहन शक्ति से मुझ में अमित प्राण डाल दिया है। न जाने क्या बीमारी थी, न जाने क्या दवा थी, मुझे तो कुछ पता ही न लगा। बनारस में सब को आश्चर्य में डाल दूंगी। माँ से कहूँगी, लो अब फिर से सारे कपड़े बनवाओ, उस बार के सारे कपड़े तग हो गये न ! सच, वहाँ सब आनन्द से पागल हो जायेंगे। देवन तुम उन लोगो से अकारण लड़ कर आये थे न, वे तुम्हें पलको में रख लेंगे।

लखनऊ न आकर वे बनारस गये। एक दिन के लिये गये पर तीन लग गये। इस बार, गीता को, वहाँ सरोज की बड़ी याद आयी। उस से मिलने का बहुत जी हुआ। कई बार उसके घर गयी। अन्त में प्रतापगढ़ तार दे उसे बुलाकर छोड़ा।

बहुत बदली हुई सरोज उसे मिली। उसका स्वास्थ्य तब से बहुत गिर गया था। मुख पर प्रौढ़ता आगयी थी। पर वह अब कटु न थी, अपेक्षाकृत कोमल हो गयी थी। ईश्वर पर, उसकी भक्ति में उसे अपार श्रद्धा हो चली थी। जैसे तब उसका आध्यात्म सुषुप्तावस्था में था, अब जग गया।

लखनऊ आकर देवन को कभी-कभी ऐसा अनुभव होता था, कि वह कहीं पीछे छूट गया है। किसी ऐसे रास्ते पर वह अजाने मुड़ गया, जो उसे आगे न ले जाकर पीछे बढा ले गया है।

यहाँ आकर देवन के दो टुकड़े हो जाते थे। दोनो टुकड़े विरोधी तत्त्व के होते हुए भी एक दूसरे को समझा बुझा लेते थे। तब उसकी इच्छा होती थी वह एक न होकर दो टुकड़ों में ही रहे। क्योंकि एकीकृत होकर वह अपने-आप से लड़ता था और घुटता हुआ आत्मदश सहता था। और तब वह बहुत दृढ़ता से जोड़ने के लिये अपने दोनो टुकड़ों को अलग-अलग करके देखता था। एक टुकड़ा, जो राजनीति में एम० ए० है, पैसे का धनी है, बहुत रंगीन मोड़ों से जिसे गुजरना पड़ा है; जिसे केवल वस्तु-पार्थ-

बिकता में प्रतीति है, वह टुकड़ा, जैसे उसका नहीं है, कुआरा ही बिक गया है। और उसका मूल्य उसे नहीं मिला है, उल्टे उसी को ही मिला है, जिसने खरीदा है। यह टुकड़ा दिवालिया है। और दूसरा टुकड़ा, जिसे माँ की ममता नहीं मिली है, प्रतिक्रिया में पला है, पर ब्याहा गया है, माँ जैगी प्रतीति और प्यार देने वाली पत्नी मिली है—वह अपने में कृतज्ञ है, अनेक भावों से भर गया है, पर अभिशाप यह है कि इस में अपने प्रति अपनी कोई दृष्टि नहीं है—पहले की छाया से यह अन्धा पड़ गया है।

उस दिन सुबह से ही वर्षा हो रही थी। देवन उदास बैठा था। गीता आयी, दायी बाँह के घेरे में उसे बाँध लिया और चुपचाप उसकी आँखों में देखने लगी, जैसे वह देवन की सारी उदासी पी रही हो।

एक बिन्दु पर आकर दोनों हँस आये।

बड़ी-बड़ी आँखों में बहुत कुछ घोल कर गीता बोली, “सितार बजाऊँ ... मल्हार ... मेघ मल्हार।”

“नहीं।”

“कहो तो कोई गीत गाऊँ। फिल्मी या कोई और?”

देवन बोला नहीं, पानी के बँधे हुये तार को देख रहा था। तार एक-एक करके आते थे, पर न जाने कैसे टूटते जाते थे—एक से दो, दो से भी अनेक।

गीता ने शिशुवत् पूछा, “क्यों देवन। रुठे हो क्या?”

वह मुस्कराता हुआ हँस पड़ा और मन्त्रोयोग से गीता को गुदगुदाने लगा। हँसते-हँसते गीता की आँखों के काजल बह गये। पास ही सोता हुआ सागर जग पड़ा।

गीता ने भक्ति-स्वर से कहा, “मुझे बताओ, अब मैं क्या करूँ? विकास पाने के लिये सतत कोई योग होना चाहिये न! .... क्या सोच रहे हो?”

देवन की दृष्टि गीता पर पड़ते ही जैसे अपने-आप में निस्तेज हो गयी। पर उतने ही वेग से शरीर में उन्माद भर आया। वह फिर



गीता को गुदगुदाने लगा और उसी बीच देवन हँसी में डूबकर कहता गया, “अब कुछ नहीं। कुछ नहीं, कोई विकास नहीं, तुम स्वयं विकास हो।” कौन कहता है तुम पिछड़ी हो, तुम में अपेक्षा है। अपूर्ण हो तुम। कौन कहता है यह?” गुदगुदी बन्द करके जब दोनों का उफनता हुआ मन-प्राण स्थिर हुआ, देवन ने गभीरता से कहा, “इस तरह से तो सब में कुछ-न-कुछ अपेक्षित होता है, सब अपूर्ण है।”

सागर गोद में था। और गीता का मन बेहद-हल्का था। वह शान्त दृष्टि से बरसते हुये बादलों को देख रही थी, जो बहुत ही छोटे क्षेत्र में उसके कमरे से दिख रहे थे।

शाम को घर लौटकर देवन बहुत थका-थका-सा था। दाये हाथ में सर टेके वह चुपचाप सोफे में धँसा रहा। गीता आयी; जूते के तसमें खोलने लगी। देवन हिला नहीं। पैर में मोजे भी उतर गये। तब उसने दोनों पैरों को भी मोड़कर सोफे में भीच लिया।

गीता वही चाय ले आयी। उसके लिये सिगरेट जला दी।

चाय पीते-पीते देवन ने कहा, “एक स्कीम सोचता हूँ गीता।”

गीता जिज्ञासा से चुप, उसे तकती रही।

“सोचता हूँ, तुम इसी युनिवर्सिटी में एल-एल० बी० कर डालो।”

“एल-एल० बी०।” गीता कुछ कह न सकी।

“सुबह को यहाँ ‘ला क्लासेस’ लगते हैं, कर डालो अच्छा रहेगा।”

गीता हँस आयी, “वकील क्यों बनाओगे? ...स्त्री नहीं रहने दोगे क्या?”

“स्त्री तो हो ही।”

“लेकिन तब तो वकील हो जाऊँगी।” गीता मुस्कराती रही।

“सागर को तब तक सुबह आया सम्हाल लेगी। मैं रहूँगा ही, या सबसे अच्छा होगा, उसे किसी उम्दा नर्सरी स्कूल में रख दूँगा।”

गीता वहाँ ठहर न सकी, भगी, आया के पास गयी और सागर को अपने अर्क में भर लिया। फिर कमरे में लौटी।

और उदास मौन बैठी रही ।

“क्या सोच रही हो ? ” देवन ने पूछा ।

“कुछ नहीं ।”

देवन कहता जा रहा था—वकालत की प्रशंसा कर रहा था, युनि-वर्सिटी में पढ़ने के पक्ष को मजबूत करता जा रहा था, और उधर गीता आज पहली बार देवन से अपने कों बाँध कर स्वयं की उपेक्षा करती जा रही थी । उसका मन विरोध से भरने लगा, जो अपने में ही सुलग कर राख होते जा रहे थे । अज्ञात, न जाने कब के कुचले, घृणित भाव, सर उठा-उठा कर सामने आने लगे, जिन्हें गीता विष की तरह पीती गयी । एक को भी न उबरने दिया । भावों में उसने अपनी माँ का कथा जकड़ लिया, और उसके चौड़े वक्ष पर वह अपने सर को पीटने लगी ।

जैसे शरीर का सारा रक्त गीता के मुह पर आ गया था, और तप्त होकर वह भाव की रेखाओं में फट कर निकल जाना चाहता था ।

अवश गीता फूटी, पर अव्यक्त-अधूरी, “मुझे नहीं चाहिये !”

“क्या ?” देवन ने पूछा ।

“कुछ नहीं !”

तेजी से गीता वहाँ से हट गयी । आया के पास चली आयी । ठंडे पानी से वह अपने मुह को धोने लगी, आँखों में बार-बार पानी के छीटे देने लगी ।

देवन पास आ खड़ा हुआ । छाया की तरह गीता के पीछे-पीछे लगा रहा । उसे कमरे में रोककर बोला, “मैं यही चाहता था, तुम कभी मेरा विरोध भी तो करो ! मैं चाहता हूँ ।”

गीता रोकर उबल पड़ी, “तुम कुछ नहीं चाहते ! जो कुछ चाहते भी होंगे, उसे जानते ही नहीं । सच, कुछ नहीं ।”

फिर आँसू पीती हुई बोली, “पता नहीं, तुम क्या चाहते हो देवन ?”

देवन उसके सामने आना चाहता था, पर वह अपनी आँख चुराती रही । आया के पास आयी, तो आया को आभास न होने दिया कि वह

रात को फिर वर्षा हुई। न जाने क्यों सागर बहुत देर तक रोता रहा। किसी विधि सोता ही न था। अन्त में उसे लिये हुये गीता दूसरे कमरे में जा लेटी, और ईश्वर से यह प्रार्थना करती हुई सागर को अक में सुलाये, स्वयं सो गयी, कि हे प्रभू ! सुख की नीद मेरा देवन सोये, सागर सोये, उनके जागरण को मैं जागू। उनके द्वन्द्व को मैं भोगू, उनके दुखों से मैं निकलू।

कोई स्वप्न देखते-देखते वह जग गयी। वर्षा बन्द हो चुकी थी। बाहर घुली हुई चादनी फैली थी।

देवन के कमरे में रोशनी थी, शायद बुझाना भूल गया था। वह कमरे में गयी। एक क्षण देवन को निहारती रही। रोशनी बुझाने बढी।

सहसा देवन की आवाज आयी, “रहने दो इसी तरह।”

कातर दृष्टि से वह देखती रह गयी। देवन आँख मूढ़े पड़ा रहा। वह पायताने आकर बैठी, देवन का पाँव सहलाने लगी।

“मुझे जलील मत करो गीता।”

उसने तेजी से सर उठाया, पर आँखें न खुली। और उसी गति से अपने सर को उसने तकिये पर गिरा दिया।

\* गीता रोकर बोली, “मुझे क्षमा करना देवन ! आज जैसी मैं कभी भी न बोलती थी, न जाने कैसे मेरी वाणी मेरे समय को तोड़ गयी।”

गीता सिसकती रही, पर देवन सब से अलग था, वहाँ कोई भी प्रतिक्रिया न थी। सब कुछ गीता में घट रहा था। वह चाहती थी, बहुत थोड़ा-सा मान था उसका, कि देवन उसे देख भर ले, बस वह पिघल जायगी। वही सो जायगी—ताकि नयी सुबह बहुत अच्छी हो, आज के विष को वह अपने अमृत-स्पर्श से शिव बना दे।

पर देवन जैसे सो गया। गीता बैठी रही। बाहर की चाँदनी न जाने कब काले बादलों में खो गयी। फिर तेजी से वर्षा होने लगी। गीता को एकाएक अपने तुलसी के बिरबे की सूधि आयी। वह पानी में भीग रहा था।

गीता बाहर निकली, धूप अँधेरा था, जिसे पीटता हुआ मूसलाधार पानी बरस रहा था। उसी में पिल कर वह अपने गमले को उठा लायी। उसकी जड़ से सब पानी गिरा दिया। दो पत्तियाँ तोड़ कर उसने मुह में डाल ली। उसके रस से मुह की ज्वर-सी साँसे धीरे-धीरे शान्ति-प्रद हो गयी और उसके भीतर की सारी कड़ुआहट पूजा की सुगन्धि में धुल गयी।

सुबह होते-होते गीता की आँख लगी, पानी की बूंदें अब तक न टूटी थीं। देवन उठा। गीता के कमरे में आया। बेबी उठ कर अपने आप खेल रहा था, माँ बेखबर थी।

देवन ने बेबी को चूमने के लिये मुह बढाया तो उसने किलकारी मार कर पापा जी की जुल्फों को कस लिया। तभी गीता जग पड़ी। देवन हँस रहा था, बेबी खेल रहा था, गीता सम्भ्रम से मुस्कराने लगी। जैसे सब हर गया, सब गल गया।

तुलसी के बिरबे में फूल आ रहे थे । बड़े ही अनुपम-सौन्दर्य के फूल थे—भूरे-भूरे काले सुनहले सिर मौर बाँधे हुये । हरी-हरी जवान भकभोर पत्तियों से पौदे भर की टहनियाँ, शाखाये तने—सब पट से गये थे । और सब के ऊपर, सब के चरम विकास, सब की कलँगियों पर फूल के गुच्छे उतर रहे थे ।

एक ओर, सुबह की धूप उतर रही थी । दूसरी ओर चम्बेली की लतर पर उड़ती-टटोलती हुई एक तितली तुलसी के फूल के किनारे-किनारे चक्कर काटने लगी थी ।

आया बैठी सब्जी काट रही थी । गीता के अक में सागर था, अपलक वह तितली को देख रहा था । गले में टाई की गाँठ बाँधता हुआ देवन आ खड़ा हुआ ।

तब आया बोली, “बाबू जी, हम सब का एक फोटू खिचवाइये, आप हो, रानी बहू हो, बीच में राजा भइया हो सब के पीछे मैं रहूँ ।”

उल्लास से गीता बोली, “और इसी जगह फोटू खिचाया जाय, यही छोटा-सा, नाम का आँगन, चम्बेली की लतर, फूलों से लदा हुआ यह तुलसी का बिरवा।”

देवन मुस्कराया। बेबी को चूम कर चला गया। और उसी शाम को, ठीक उसी तरह सब का एक सम्मिलित चित्र खींचा गया। उसी क्रम में और भी कई चित्र खिंचे। अकेले सागर का, अकेली गीता का, अकेले देवन का।

गीता दौड़ी हुई मिसेज घोष को पकड़ लायी, साथ प्रतिमा जिया को भी। सब के साथ फिर एक सम्मिलित चित्र खिंचा।

शाम होते-होते जब सब चले गये, अकेली गीता रह गयी, तो उसके मन में एक और भी इच्छा उठ रही थी, चित्रा होती, तो उसके भी साथ एक सम्मिलित चित्र होता। इस भाव को लेकर सोचती रहना, गीता को अत्यन्त प्रीतिकर लग रहा था।

सब चित्र अच्छे आये थे। गीता के मन में एक दूसरा भाव उठा। वह अपने परिवार का एक चित्र बनारस भेजे—बीरू के नाम, दूसरा प्रतापगढ़—सरोज के नाम, और तीसरा दिल्ली—शकुन जिया के पास।

पर वह सरोज के पास न भेज सकी। अन्तर ने मना कर दिया। देवन ने चित्र के साथ बनारस एक पार्सल भेजा, बीरू के लिये कपड़े थे उसमें।

शकुन जिया के पाँच बच्चे हो गये थे, मुन्ना, चुन्ना और छोटे, दो बच्चियाँ थी—टूल और फूल। लगातार तीन दिनों के परिश्रम में गीता ने सब के लिये कपड़े सिले, खिलौने मगाये, कई गुड़ियाँ बनायी और उनका पार्सल शकुन जिया के नाम किया।

उसी रात देवन ने बताया, चित्रा आ गयी। कल रेडियो पर उसके संगीत का कार्यक्रम है। दूसरे सप्ताह में उसे एक रूपक में भाग लेना है।

गीता चुप रह गयी। सागर को अपने अक में छिपाये हुये वह शकुन जिया की सुधि करने लगी। मन को बनारस ले जाकर वहाँ के घर में

अपने के बन्द कर लिया। जिस कमरे की आलमारी में उसकी पुस्तके बन्द थी, जिस स्थान पर माँ के भगवान प्रतिष्ठित थे, उन सब स्थलों से वह अपने-आप को बाँधने लगी।

पर कहीं कुछ बँध नहीं रहा था। भीतर जैसे बड़ी तेज हवा बह रही थी। सेमर के पेड़ में उसके पके हुये फल। हवा लगते ही फल चटख कर टूट रहे हो और उसके भीतर की सारी रूई, उसका भुआ और उस के एक-एक रेशे बिखर रहे हो। गीता ऐसा देखने लगी। बहुत बचपन में उसने ऐसे सेमर के पेड़ को आँधी के बीच देखा था।

सुबह गीता के उठने के पहले ही देवन उठ गया था। सभवतः टहलने चला गया। धीरे-धीरे नाश्ते का समय बीत गया। दस हो आया। तब वह दौड़ी, रेडियो खोला, उसमें से कुछ आवाज़ आये, कि सहसा देवन आ गया।

छूटते ही बोला, “सुना न ?”

गीता ने सर झुका लिया, निश्चेष्ट वह कमरे से बाहर निकल गयी। कमरे में सागर बे तरह रो रहा था। देवन वहीं सोफे पर बैठ कर सिगरेट फूकता रहा।

आया उसे उठाने के लिये दौड़ी। गीता ने उसे रोक दिया, स्वयं फिर से चाय बनाती रही। चाय लेकर जब तक वह कमरे में गयी, सागर का गला रँध गया था। चाय रखकर वह फिर जल्दी से लौट आयी। रसोईघर के सामने खड़ी हो गयी, कुछ क्षणों का और अन्तराल बनाने के लिये।

तब वह अपने-आप पर क्रोध से भर गयी। झपटकर कमरे में घुसी सागर को अक में भर कर रो दौड़ी, उस कमरे में नहीं, अपने कमरे में आकर।

कपड़े बदल कर देवन सामने आया। तब तक सागर हिचकियाँ भरते-भरते सो गया था। गीता का आँचल उसे ढके था, उसके सागर को भी, और उसके अन्दर न जाने कितनी नग्नताओं को।

देवन ने स्वर को मीठा बनाकर कहा, “तुम्हे पूछ रही थी । . . . अगली बार तुम उसके साथ रेडियो स्टेशन जाना । ‘लिसनर’ न सही, आज के अखबार में तो उसके प्रोग्राम का समय था । मैं बताना भूल गया तो क्या ? अखबार रोज पढ़ना चाहिये, और सुबह ही सुबह । जो समय के साथ नहीं चलता वह पीछे छूट जाता है ।”

गीता की इच्छा हो रही थी, वह ऑचल के तार-तार कर दे ओर इतनी जोर-जोर से चीखे कि उसके स्वयं के कान बहरे हो जायें ।

पर दूसरी ओर उसकी नगरी, जो ऑचल में छिपी थी, जिसके स्वर गीले थे, आँखें भरी थी, कठ गल रहे थे, अपने को दिखाना नहीं चाहती थी । जो अति व्यवितगत है, जिस में निजत्व की सत्ता है, वह उसी का है, और किसी का नहीं ।

देवन चला गया, आया से कहता हुआ अपने घर की दीवारों को सुना गया—दोपहर का खाना वह नहीं खायेगा, शाम की चाय पर भी उसका इन्तजार न किया जाय ।

गीता अपने को छिपा, सहज में बदल कर आया के सामने आयी । वह नीचे सड़क पर देख रही थी ।

“क्या है आया ?” गीता ने हल्के स्वर से कहा “क्या देख रही हो ?”

“कभी-कभी अपने करम को सोचती हूँ बहू जी ! . . हँसी आती है ।”

गीता मुस्करा आयी, “चलो अच्छा है, रुलाई तो नहीं आती । जिसे अपने पर रोना पड़े, उसकी सोचो आया ।”

“मैंने तो बहू जी, सोचना-फोचना छोड़ दिया, मुआ, जितना ही सोचो उतना ही रोओ !”

“तभी तुम्हे हँसी आती है ।”

गीता तुलसी के फूलों को देखती हुई बैठ गयी ।

आया बोली, “कभी-कभी साहब को न जाने क्या हो जाता है, अच्छा नहीं लगता, इतने पढ़े-लिखे लोग . . .”

आगे कुछ पी गयी वह ।



फिर बोली, “मेरा वश चले तो ओम के घर आग लगा आऊँ।”

“क्यों?” गीता घबडाकर खड़ी हो गयी, गम्भीरता से बोली, “क्या बक रही हो?”

“बकती नहीं मैं बहुरानी।”

“काम करो अपना।”

“नाराज न हो बहू।”

गीता की आँखें बरस आयी। भागकर वह कमरे में चली गयी। सागर को गोद में उठा लिया। जगकर वह मुस्कुराने लगा। पर गीता उसे मनाती रही, जैसे वह रो रहा हो।

दोपहर को आर्यादादा आये। गीता ने कुछ आभास न होने दिया। उन्हें एक-एक करके सब चित्र दिखाती रही। उसी बीच आया ने कह दिया, “सरकार, यहाँ आज कोई खाना नहीं खा रहा है। सब तैयार है पर...।”

गीता ने घूर कर उसे मूक बना दिया।

आर्यादादा ने बहुत पूछा, पर गीता ने कुछ न प्रकट होने दिया। जो आया से प्रकट भी हुआ था, उसे वह भूठ बनाती रही।

दूकान पर आकर आर्यादादा ने पता लगाया तो देवन अपने कमरे में न था। मभवत काफी हाउस गया था। बड़े बाबू को बुलाकर वे वही प्रतीक्षा में उनसे बातें करने लगे।

कारोबार में मदी चल रही है। मालिक का जी नहीं लगता। ग्राहको-खरीददारों और मिलने वालों से एक तो कम मिल पाते हैं, और जब मिलते भी हैं, तो ढग से बात ही नहीं करते, जैसे गरज औरों की है इनकी नहीं।

दो बजते-बजते देवन लौटा। आर्यादादा ने कुछ न कहा। उसी रेक्शे पर उसे बिठा कर वे ‘डी हेविन’ आये। वहाँ जैसे कुछ न हुआ था। सब कुछ पहलै जैसा था। आया भूठ थी, आर्यादादा का श्रम निर्मूल था।

एक साथ बैठकर सब ने भोजन किया । फिर लोग अपने-अपने काम पर चले गये ।

तीसरे दिन शाम को देवन ने प्रस्ताव किया कि वे दोनों चित्रा के घर चलेगे । गीता ने कहा कि वह घर ओम का है, चित्रा का नहीं । और उसके घर वह कभी नहीं जायगी ।

देवन ने पूछा, “क्या सौगन्ध कर लिया है ?”

“सिद्धान्त भी !”

“क्यों ?” उसने पूछा ।

“सब भूल गये ? इतनी जल्दी ?” गीता ने भी पूछा ।

“जो बीतता चलता है, हम उसे लादते नहीं फिरते ।”

गीता चुप थी । अपने को दबाती रही । देवन अपनी बात को दुहराता रहा, जैसे वह गीता को कुछ बोलने के लिये कुरेदता चल रहा था ।

“जो बीत गया, हम उसे लादते नहीं ।”

“मुझ पर तो लदा रहता हूँ . . बीतने के साथ मैं भी बीती हूँ—और वही मैं हूँ—वही मेरा निश्चय है—मूल है—आगे क्या ?”

“तो सब तरह से उल्टी हो मुझ से ।” देवन ने जैसे अपने से कहा । गीता गिडगिडा उठी, “ऐसा क्यों सोचते हो ? ऐसा न कहो ।”

“जबान पर भी ताले लगा दो, तब कुछ नहीं कहूँगा । बन्द कर दो मुझे किसी कमरे में ।”

भाव-शून्य दृष्टि से गीता देखती रही, पर किसी लक्ष्य से नहीं, लक्ष्य हीन । कुछ क्षणों बाद बोली, “जो चाहो, कहो, जहाँ-जहाँ गति हो, वहाँ जाओ । कैसा ताला ? कौन बन्द करेगा तुम्हें ?”

स्वर भीग आये । उन्हे सुखाकर कहने लगी, “जहाँ तक हो सकेगा, मैं वही तक साथ दे सकूंगी । पर मैं यह नहीं चाहती कि तुम भी मेरे साथ वही रुक जाओ । जो मेरी सीमा है, वही मैं हूँ । जो सहज है, मेरे लिये असहज भी है तो क्या—वही होगा—वही हो भी, मुझे स्पर्धा नहीं ।

उस बीच देवन कमरे से बाहर भी गया, फिर दरवाजे को पार करते हुये बोला, “मैं तो बँधा हूँ, तुम्हे क्या पता ।”

गीता का स्वर ओर भी गम्भीर हो आया, “पुरुष तो हो, तोड क्यो नही देते ? जो बाँधे उसे नष्ट कर देना चाहिये; क्योंकि वह असत्य ससार है, घृण्य—स्वार्थी ।”

हीनता के घुएँ मे देवन का माथा चकरा गया । उसे कुछ न मिला, तो यही कहने लगा, “तुम्हे तो बस रोना ही आता है ।”

कुछ सुनने के लिये वह रुका नहीं । चला गया । सागर के माथे पर अपने तप्त मुख को रख, गीता बुदबुदा उठी—ओ सागर भइये ! तू अपने पापा को मारता क्यो नही । वह कहते हैं कि मुझे रोना ही आता है । बेटे ! तू ही बता इसमे मेरा क्या दोष है । तेरे नाना-नानी का है न ।

बिना शब्द के सागर बातें करता रहा । वे शब्द ऐसे थे, जिसमे नैसर्गिक वाणी थी, ऐसी वाणी, जिसमे गीता के लिये दृष्टि भी थी ।

रात के साढे नौ बजे रेडियो से वह रूपक आने वाला था, जिस की नायिका चित्रा थी । देवन ने पूछा था, पर गीता रेडियो स्टेशन जाने के लिये तैयार न हुई ।

देवन चुप रह गया । दो बार उसने कपडे पहने । कई बार वह जीने से उतरा-चढा, 'पर अन्त मे वह भी न गया ।

सोफे के सिरहाने रेडियो खोलकर वह बैठा रहा, और बिना कुछ बोले सिगरेट पर सिगरेट सुलगाता रहा । नौ बजकर बीस मिनट पर सामने गीता आ बैठी । फर्श की कालीन पर सागर खेल रहा था ।

घड़ी देखकर देवन ने आया को पुकारा ।

कहा, “बेबी को ले जाओ यहाँ से ।”

न जाने कैसे गीता को वह स्वर चोट कर गया । वह सागर को गोद

मे लिये बाहर चली गयी, लौटी नहीं। साढ़े नौ बजे नाटक शुरू हुआ। पर पाँच ही मिनट बाद अकेला देवन रेडियो की आवाज से उकता गया।

रेडियो बुझ गया। और एक नगी आवाज उसके चारों ओर फैलने लगी—जिसे वह देखता नहीं था, अनुभव करता था, जिससे लड़ा नहीं जा सकता था, केवल हारकर भागा जा सकता था।

कमरे से वह भागा। रेडियो बुझकर ठड़ा पड़ा था, पर जैसे उसमें से नाटक स्वयं बोल रहा था, कुछ अपने-आप हो रहा था—आवाज के साथ, जिसके पीछे द्वन्द्व थे, कार्य थे, चरम सीमा थी।

जितनी तेजी से भाग कर वह बाहर आया, उसी गति से वह अपने में मथ उठा—सब मर जायँ तो अच्छा है—वह खुद मर जाय तो कितना अच्छा हो।

उस रात गीता, सागर को अंक में लिये-लिये सो गयी। सुधि तब हुई, जब वह एक स्वप्न देखती-देखती जगी। देवन पलँग पर सो रहा था। गीता पूरे स्वप्न को सुधि में कसे हुये कामना भरी दृष्टि से सोने वाले को देखने लगी। पर वह अपने स्वप्न के लिये देवन को जगायेगी नहीं, केवल उसे अपनी अनुभूति में, प्राणों से बाँधे रह जायगी—वह सो रही है। उसके अंक में इतना दूध भर आया है कि उसे सागर नहीं समा पाता। अक से दूध की दो धाराये बहकर धरती पर आती हैं, फैलकर एक दूसरे से मिल एक धार बन जाती है। पलँग के नीचे एक गड्ढा है, धीरे-धीरे दूध से वह गड्ढा भर जाता है।

गीता अकथ स्वप्न को अपने भीतर जितना बाँधती जा रही थी, उतनी ही शान्ति उसे मिल रही थी। बावरी-सी गीता, कई बार झुक-झुक कर पलँग के नीचे उस दूध-भरे गड्ढे को ढूँढती रही।

सुबह आया को देखकर उसका मन एक बार फिर ललचा आया कि वह अपने स्वप्न को उस से कहे। पर वह अपने को दबा गयी।

देवन आफिस चला गया। गीता मिसेज घोष के यहाँ गयी। वह कुछ अस्वस्थ थी। प्रतिमा सरहाने बैठी हुई उनके माथे पर कुछ लगा रही थी।

कराहती हुई माँ जी बोली, “सुना बहू! वनश्री के बारे में! वह फिल्म में जाना चाहती है। हम सब से ऊपर उठकर वह न जाने क्या-क्या कर रही है! तुम उसे समझाओ बहू!”

शाम को वनश्री मैटनी शो देख कर लौटी थी, तभी गीता से उसकी भेंट हुई।

गीता के कुछ कहने-पूछने से पहले ही वनश्री प्रीति भाव से कहने लगी—“इस शहर से तो मेरी तबीयत उकता गयी है—छोटी जगह है। कलकत्ता-बम्बई जैसी जगह होनी चाहिये—वहाँ किसी का अर्थ नहीं लगाया जाता। खुलकर लोग जीते हैं।”

गीता चुप सुनती रही। बातों-बातों में वह चित्रा के बारे में कहने लगी। उससे मेरा परिचय है रेडियो पर, सिनिमा में, क्लब और संगीत-नृत्य समारोहों में उसका प्रायः साथ रहता है।

गीता की भूमिका ही बदल गयी। वह कुछ कहने को थी, अब वह उल्टे पूछने को आ गयी। प्रश्न तो अनेक थे, पर उसके गले से ऊपर नहीं उठ पा रहे थे। उनके लिये कोई वाणी ही न थी, जिन में बँधकर वे बाहर आते। निर्विकल्प, सब पी गयी वह—घोट गयी।

माता जी के लिये प्रतिमा दवा लेने जा रही थी। गीता भी साथ चली।

‘रास्ते में प्रतिमा ने यू ही पूछा, “तुम्हें यह जगह कैसी लगती है?”

गीता मुस्करा दी। कुछ न कह सकी।

स्वयं उत्तर देने लगी, “मुझे तो यहाँ सब मिलाकर सझाटा-सा लगता है। प्रातः काल से दो बजे रात तक कौ पुरी आवाज इतनी सूनी,

खाली-खाली-सी लगती है, जैसे इसके पीछे मनुष्य नहीं है, छाया है, जो मनुष्य के रूप में चारों ओर लयहीन घूमती-डोलती है।”

दवा लेकर लौटती बार गीता की दृष्टि सामने बिजली के खम्भे पर पड़ी। चाक से गहरे अँग्रेजी अक्षरों में देवन और चित्रा का नाम लिखा था और उसके सग एक भट्ठी-सो बात भी। वही बात वह आगे के सात खम्भों पर पढ़ती गयी। सातवाँ खम्भा ‘डी हेविन’ के ठीक सामने पड़ता था।

प्रतिमा को उसके घर पहुँचा कर, वह तेजी से सड़क पर उतरी। अब वह तार के भी खम्भों को देखने लगी। वे सब सूने थे।

जीने के पास खड़ी हुई वह एक-एक बिजली के खम्भे को फिर से गिनती हुई सोचने लगी—उन लिखावटों को वह कैसे बिगाड़े? दिन है, सड़क, आने-जाने वालों से भरी है। रात होगी, तब उस पर बिजली की रोशनी फैली रहेगी। पर तब तक न जाने कितने लोगों की आँखें पढ़ लेगी।

आवेश से वह भर आयी। खम्भे की ओर बढ़ी, पर उसे मिटाने की हिम्मत न हुई, जैसे पूरे शहर की आँख उसी पर लगी हो। भागकर वह कमरे में गयी। उसे चारों ओर से इस तरह बन्द कर लिया कि कहीं से बिजली का खम्भा न दिखाई पड़े; सड़क की छाया न आये। वह रात की प्रतीक्षा करेगी—रात के अन्धकार पक्ष की, उसके सन्नाटे काल की, जिसे प्रतिमा जिया छाया का दोलन कहनी है।

रात बीतने को आयी, पर खम्भों की बिजुलियाँ न बुझी। गीता उठी। पानी से आचल को भिगो लिया और सूनी सड़क पर उतर आयी। दौड़कर सात खम्भों को पार कर गयी। सारा आँचल काला पड़ गया, और उस में कहीं भी चाक की सफेदी न मिली। सब मिट गया, सब धुल गया।

आश्चर्य मान से वह ऊपर आयी। पर कुछ उसके भीतर कुरेदने लगा। वह मिटती हुई लिखावट, वे दो नाम, उन पर दो पैक्तियाँ,

जैसे गीता के आँचल से उड़कर पूरे वातावरण में बिखर गये। पूरे शहर पर छा गये। सब मुहल्ले, सब सड़के, हर घर, और सब को जोड़ने वाले वे बिजली के खम्भे—सब पर वह चाक की लिखावट फैल गयी।

कई दिनों तक गीता उस अनुताप से जलती रही। पर किसी को आभास न होने दिया। सब कार्य चलते थे। अगृहस्थी का हर कोना एक चक्र में घूमता था, उस गति में वह निरत होकर पूरी शक्ति से जलन के सब धुएँ को पीती गई।

एक रात, बहुत देर से देवन घर लौटा। गीता उसकी प्रतीक्षा में बैठी थी। आकर वह सोफे पर सर डाल कर बैठ गया। गम्भीर मुख से इतनी कटुता, इतने अविश्वास की रेखाएँ उभर रही थी कि गीता उसके सामने पड़ने की हिम्मत न कर पा रही थी।

कपड़े तक नहीं बदल रहा था, बस मौन बैठा था। सिगरेट भी नहीं जला रहा था। अधिक समय बीत गया, गीता सिगरेट की टिन पर मैचबाक्स सँभाले उसके सामने रख आयी।

कुछ क्षणों बाद वह फिर देवन के पास गयी। पास बैठी और उसके भयानक मौन को जैसे पीने लगी। उसके द्वन्द्व और ताप को अपने में ओढ़ने लगी।

“क्या है, मुझे भी बताओ न।”

गीता सर झुकाये रही। देवन सिगरेट पी रहा था। गीता हिम्मत बाँध कर बोली, “कुछ और ही बात करो देवन ! ...चलो सो जाओ मैं नींद ला दूँगी।”

कुछ क्षण चुप रह कर फिर बोली, “जो विष और अमृत है, उसे मैं भी पीऊँगी। तुम मे मैं सदा, हर पल निहित हूँ—कार्य में, कारण और परिणाम में भी।”

देवन अब तक चुप था, गीता को आश्चर्य हुआ। वह और समीप चली आयी। एकाएक वह हँस आया और उसी गति में उसने गीता को

अपनी बाहुओं में इस तरह जकड़ लिया, जैसे वह उसके टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहता हो ।

उसके मुँह से कुछ अजीब-सी बदबू आयी । गीता का सर चकराने लगा तो सहसा उसे शराब के नाम की सुधि हो आयी । पर वह नाम, यह बदबू, देवन का वह रूप, ये तीनों उसके लिये नये थे, निरपेक्ष थे । वह हार गयी, लेकिन उन तीनों को एक अर्थ में न बैठा सकी ।

कुछ क्षणों के बाद उसे अपने-आप अर्थ मिल गया । दिमाग में तीनों एक होकर जुड़ गये । उसकी धरती घूमी, पर वह निश्चय रही । न जाने किस आपद काल की शक्ति से उसने देवन को अपनी बाहों से उसे बिस्तरे पर सुला दिया । और उसे सँभाले बैठी रही ।

सुबह देवन नौ बजे उठा । पहले जी भर कर स्नान किया, फिर गीता के पास बैठा ।

देवन अपने-आप कहने लगा, “कल ओम से कुछ बातें हो गयी । चित्रा को क्या तुमने देखा नहीं ! उस से अब मिलोगी तो देखना वह कैसी हो गयी है । तुम्हें बहुत याद करती है । रेडियो पर उसकी बड़ी प्रशंसा है । तारीफ में अनेक पत्र आये हैं ।

गीता से कुछ न बोला गया ।

“चुप क्यों हो ?” देवन ने स्नेह से पूछा ।

“बोलूँ मैं ?” गीता के मुँह से निकला, “किसके नाम रात शराब पी थी ?”

“बात क्या है ? ओहो ! इसी पर चुप बैठी हो ?” कुछ क्षण चुप रह कर बोली, “यू ही हो गया कल । पार्टी वालों से किसी तरह बच न सका । यहाँ तो रोज पीने की सभ्यता है । मैंने तो न जाने कितने दिनों बाद पी है ।”

गीता का मुख रक्त से भर गया, “तो रात ही क्यों ? हमेशा क्यों नहीं ।” देवन चुप रह गया ।



भरे कठ से गीता बोली, “तुम सत्य से भागकर शराब के नशे में शरण ले सकते हो, पर मेरी गति कहाँ है ?”

“क्या मतलब ?”

गीता रो पड़ी। पर क्षण ही भर बाद सम्मल गयी। कसकर बाँधा अपने को, और देवन के बाये कंधे पर झूल-सी गयी।

“जहाँ तुम भटक रहे हो देवन, वहाँ हमारी कोई गति नहीं है।”

“क्या बकती हो ? कुछ समझती भी हो ?”

देवन उठ खड़ा हुआ। आफिस जाने की तैयारी करने लगा। गीता हारी नहीं, “कुछ-कुछ समझती हूँ देवन ! इतनी मूर्ख नहीं हूँ। देश-काळ ने मुझे भी समझ दे दी है। समझने लगी हूँ, तभी दुखी हूँ। वैसे, इस समझ को आगे लगे।”

कहते-कहते वह फिर रो आयी। वहाँ से हट गयी। और सीधे मिसेज घोष के यहाँ चली गयी।

एक घंटे बाद लौटी, जब आया उसे बुलाने गयी। आया को साथ लेकर वह भोजन करने बैठी। रानी बहू को उदास देखकर वह मन बहलाने लगी।

“रानी बहू ! यह नवाबो का शहर था न ! नवाब तो नहीं रहे, मगर उनकी आदतें शैतान के रूप में अब भी यहाँ रहती हैं।”

आया तो हँस दी, पर गीता चुप रही। उसी बीच आया की लड़की गोविन्दी, किशुन, मुन्नू और हरिश्वा के साथ ऊपर चढ़ आयी।

आया की थाली में सब बच्चे टूट पड़े। गोविन्दी खड़ी रह गयी। गीता ने उसे देखा और ममता से भर आयी। जहाँ मातृत्व अभिशप्त है, वहाँ उसमें भी आगे एक सीमा है। उसे कौन अभिशप्त कर सकता है ? माँ, आया है, प्रकृति से, पर वह बाप बन गयी है। गोविन्दी कुमारी है प्रकृति से, लेकिन वह जैसे माँ हो गयी है।

आया को सग लेकर जब उसके सब बच्चे चले गये, गीता

को पूरा घर सूना-सा लगने लगा। सोते हुये सागर के पास गयी और जी हुआ कि उसे जगा दे। वह रोने या हँसने लगे, सोये नहीं।

जगाया हुआ सागर रोया नहीं, जगकर उसकी गोद से चिपका रहा और मामा, बुआ, पापा आदि रटता रहा।

उसी बीच जीने से आर्यादादा की आवाज आयी। और उसके साथ ही आर्यादादा और शीतल राय जी ऊपर आये।

अपना माथा ढक कर, आदर से उन्हें ड्राइंग रूम में बिठाया। स्वयं स्टोब पर चाय बनाने दौड़ी। पर आर्यादादा ने रोक लिया।

‘ उन्होंने बताया कि वे लोग देवन की ट्रेडिंग कम्पनी से आ रहे हैं। देवन के पास कोई लेडी टाइपिस्ट थी—ऐजिलो। उसे नौकरी से हटा दी है। कोई चित्रा थी, देवन से मिलने-मिलाने के लिये वह ऐजिलो बीच में सूत्र-सी थी। कम्पनी की दशा इन्ही चक्करो में गिरने लगी थी।

पूरी बात का प्रभाव गीता पर तीखा हुआ। वह अनादृत-सी हुई। अपने को सम्हालती हुई वह कह उठी, “यह सब मुझे क्यों सनाया-बताया जा रहा है ?”

“आवश्यक था। यह बनारस नहीं है गित्ती।” आर्यादादा ने कहा।

“बहुत होशियारी से अपनी गृहस्थी देखनी होगी।”

शीतल राय जी कह उठे, “रानी बहू! तुम हमारे परिवार की लक्ष्मी हो। बहुत पुराना खानदान है हमारा।”

“पिता जी, मैं लक्ष्मी होती तो मुझे आपके घर से निकल कर यहाँ क्यों आना पड़ता? जैसे वे हैं, मैं तो वैसी भी नहीं हूँ, बल्कि उन्होंने मुझे कुछ बनाया भी है!”

घर से आया लौटी। चाय के लिये गीता एक बार और आग्रह करने लगी। पर वे लोग थोड़ी देर बाद चले गये।

गीता तब क्षुब्ध थी; अब चितित भी हो आयी। देवन इस रूप में उसे याद आने लगा, जैसे ऋष पर अत्याचार हुआ है। मान-हानि के साथ

उसके व्यक्तिगत जीवन को छुआ गया है। गीता पर तो भयानक दया दिखाई गयी है। अधम रूप में उसे ग्रहण किया गया है।

भाव-वस्तु हो वह पास के मकान में गयी। ट्रेडिंग कम्पनी में उसने फोन किया। देवन मिल गया। गीता ने उसे घर बुला लिया।

उसने देखा, देवन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। अपनी प्रतिक्रिया का प्रक्षेपण वह क्या करती, सब पी गयी और मथ उठी अपने में।

नित्य की भाँति वह टहलने के लिये गज की ओर गया। और उसी समय रात को लौटा भी, जो उसका क्रम था।

गीता के सर में पीड़ा थी। भीतर कुछ मथ रहा था और उसे तोड़कर निकल जाना चाहता था। पीड़ा की अन्विति में वह कामना कर रही थी कि वह बीमार हो जाय—ऐसी बीमारी नहीं कि वह मर जाय, ऐसी बीमारी कि वह बेहोश रहे।

उधर देवन बड़े मनोयोग से कह रहा था, “मेरे एक साथी हैं अभी-अभी शादी हुई है। खूब पियानो बजाती है। उतना ही अच्छा गला भी है। घर पर अपने हाथों कॉफी बनाती है। बस पीने में मजा आ जाता है।”

गीता को अनुभव हो रहा था, पूरी एक भीड़ का शोर उसके कानों को बधिर बना रहा है। और उस में से केवल एक स्वर कभी-कभी ऊपर उठ आता है—“मैं यह कहता हूँ, मैं यह कहना चाहता हूँ।”

मनोयोग से गीता पत्र लिख रही थी। कुछ सोचने के लिये उसने सर उठाया, तो देखते ही हतप्रभ हो गयी। सामने, पैट मे हाथ डाले चुपचाप ओम खड़ा था।

घबडाकर गीता उठ खड़ी हुई।

ओम गम्भीरता से बोला, “डर रही हो मुझ से ?”

“क्यों ?.. डरूँ क्यों ?”

“पहले तो डरती थी—याद है न, जब व्याहकर आयी थी !”

गीता चुप थी।

“अब इसलिये नहीं डरती कि सब दिवाला बोल गया।” ओम की आवाज कटु हो आयी, “अरे ! तब क्या डर था, डरो अब ! मैं तुम पर दया जो करता हूँ—‘पिटी’ ! ‘पिटी’ !

“होश मे रहो ओम !” कहती हुई गीता तडप-सी उठी, “यह मेरा घर है, इसकी मर्यादा है, सीमा मे रह कर बातें करो !”

“तो अपनी मर्यादा सुन लो ! और मेरी सीमा भी !” शब्दों को

पीसते हुये वह बोला, “अपने देवन को बाध कर रखो, नहीं तो विधवा होना पड़ेगा।”

गीता को कुछ विष दश कर गया। कॉपने-सी लगी।

“जो नीच होते हैं, वही अपने को बड़ा सिद्ध करना चाहते हैं।—मैं कार लाया हूँ। कार पर बैठकर मेरे घर चलो और वहाँ आँख खोलकर देखो अपनी सीमा! मर्यादा कहाँ है? क्या है? जो भीख माँगे, वह मर्यादा को भूल जाय।”

गीता तीव्र प्रतिशोध की दृष्टि से उसे देख रही थी, पर उस से कोई शब्द तक नहीं फूट पा रहा था।

आवेश में ओम चला गया। गीता बेसुध-सी अपने सब कमरों में अनायास चक्कर लगाने लगी। कई बार जीने पर चढ़ी उतरी। अन्त में उस दीवार के पास गयी, जहाँ किसी दिन उसने एक मन्दिर बनाया था। वहाँ की दीवार से उसने अपने सर को टकरा दिया। माथे का खून आँचल तक बह आया। फिर भी उसे रोना न आया, न घाव का दर्द ही मालूम हुआ। माथे की चोट को आया ने देखा। वह रो पड़ी। देवन ने समवेदना प्रकट की, पर जिज्ञासा न हुई। गीता को तब रुलाई आयी।

रात को उसे बहुत तेज ज्वर चढ़ आया। और पलँग पर गिरकर वह अधीर हो गयी। उसी दशा में उसने देवन को बताया कि ओम आया था, और वह यह कह गया है कि अपने देवन को सीमा में रखो।

शेष वह सब कुछ पी गयी।

लगातार दो दिनो तक ज्वर उसी तरह चढ़ा रहा। आया ने एक क्षण के लिये भी न साथ छोड़ा।

तीसरी शाम को गीता की बोल सुनायी पड़ी। पहले वह शिशुवत् मुस्कराती रही।

अजान्न स्वर में बोली, “बीमार की कोई गति नहीं होती! गति भी उस से उकता जाती है।”

सामने प्रतिमा जिया बैठी थी। गोद में सागर खेल रहा था। गीता शान्त थी। जो कुछ भीतर घाव कर गया था, वह जैसे इस ज्वर की तपन में धुल-सा गया। वेदना उसे नयी दृष्टि देकर अब डटकर जीने के लिये कह रही थी। अकस्मात् बीमारी ने उसे रोककर सब से निरपेक्ष रहने के लिये कुछ अमूल्य क्षण दिये। चिन्तन को अनुभव मिले— एक अनुभव यह भी था—इस भयकर दौड़ की गति जानने के लिये कोई रुके, तब अन्दाज लगाये। पर वह रुकावट नहीं, जैसे राह चलते-चलते कोई राहगीर रुक जाता है। नहीं, बीमार होकर रुके। उसकी विवशता में सब स्पष्ट हो जायगा—जैसे एक रुक गया है, और ससार उसे पीछे छोड़ता हुआ कितनी तेजी से आगे भाग रहा है।

रात को सागर सो ही न रहा था। आया को देख-देख कर चीखता था। देवन टहल कर लौटा नहीं। अवश गीता ने उसे पास सुला लिया। अपने तन की जलन शिशु को न लगे, उस ने अपने को कई तह के कपड़ों में ढक लिया।

किसी डाक्टर को साथ लिये हुये देवन लौटा। पर स्वयं पहले गीता के सामने न गया, डाक्टर को भेजा।

कुछ क्षणों बाद सामने आया। गीता ने डाक्टर को बता दिया कि उसका बुखार अपने-आप उतर जायगा। उसे दवा की अपेक्षा नहीं।

माथे की चोट से पट्टी हटा दी गयी। घाव ठीक हालत में था। डाक्टर ने आदेश दिया कि मरीज के साथ बेबी नहीं सो सकता। पर बेबी को समझाये कौन? माँ को भी कैसे विश्वास दिया जाय कि वह बीमार है। अरे! मरीज तो सब है, और सभी डाक्टर भी बनते हैं, तभी परिणाम कुछ नहीं निकलता। मरीज अपनी दवा स्वयं जब करने चलेगा तभी कुछ हो सकेगा। यह भीतरी बीमारी है, इस पर बाहरी दवा कभी कारगर नहीं हो सकती। घड़ी में, रात के ठीक दस बजे। देवन ने उसे दवा देकर, कमरे की रोशनी बुझा दी। डाइग रूम में गया।

और वहाँ प्रकाश करके चुपचाप बैठ गया। उस कमरे की रोशनी पर्दे के दोनो किनारों से दो समानान्तर रेखाओं में गीता के कमरे के फर्श पर बिछी थी।

दोनों तकियों को दुहरा समेट कर, उसी पर सर टिकाये, गीता उन्ही दो समानान्तर रेखाओं को देख रही थी। ये रेखाये कभी नहीं मिलती। क्यों ? दोनों के बीच में समान अन्तर है,\* इसलिये नहीं, बल्कि दोनों में समान धर्म है—ऐसा धर्म नहीं, जो पदार्थ में होता है—खींच कर मिला लेने वाला। ऐसा धर्म जो अह-वश मिलने नहीं देता।

किसी प्रेरणा से गीता उठ बैठी। नीचे खड़ी हुई और उस प्रकाश की ओर खिचने लगी, जिसकी वह रेखाये देख रही थी।

पदार्थ की भाँति वह खिचने लगी। निर्बलता के कारण वह दीवार के सहारे चल कर पर्दे के पास आयी। सहसा प्रकाश भरे कमरे में प्रविष्ट हुई।

उस क्षण वह अपनी सारी निर्बलता, सारे असाध्य को जीतकर देवन के हाथों पर फट पड़ी। पूरी बोतल अक में गाड़ ली। टूटते स्वर में कहने लगी, “यह मेरा विष तुम क्यों पीते हो ? मेरे लिये अपने को न मिटाओ। यह विश्वासघात होगा, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। अब मैं स्वयं मिट जाऊँगी। अपने विष को मैंने पा लिया। मूल मैं हूँ। बीच में मैं ही फैल कर समानान्तर बनाती हूँ। मैं सब को तोड़कर अपने आप सिमट जाऊँगी।”

पागलो-सी वह देवन के पैरों पर गिर पड़ी। स्वर और भी काँपने लगे, “तुम्हारी अचल सत्ता के लिये मैं मिटूंगी, तुम क्यों ? देवन तुम क्यों ? कारण-कार्य दोनों मैं हूँ। जो मैं हूँ, उसे मैं भोगू, तुम क्यों ? इतनी स्वार्थिनी मैं नहीं हूँ।”

देवन अभियोगी की तरह दाये हाथ की दो उँगुलियों को वह अपनी बन्द आँखों में गड़ाये रहा।

गीता उठ खड़ी हुई। शराब की बोतल उसने सामने की मेज पर

रख दी, और सिसकती हुई दीवार के सहारे जा लगी। नि शब्द रोती रही और बच्चों की तरह दीवार के सहारे वह अपने कमरे में चली गयी, एक बार मुड़ कर भी न देखा।

कुछ क्षण तो रोती रही। फिर उसे दबाकर वह उसी तरह तकिये के सहारे उन दो रेखाओं के बीच काली जमीन को देखने लगी—शून्य-अन्धकार युक्त।

सहसा उसे लगा, जैसे ओम के 'पिटी' 'पिटी' शब्द की अनवरत प्रतिध्वनियाँ सारे कमरे में खिंच गयी। उठकर उसने कमरे में रोशनी कर दी। रेखाओं को धर्म मिल गया, वे एक होकर खो गयी।

सुबह गीता का बुखार उतर गया था। पर उसे तोड़ देने वाली कमजोरी अनुभव हो रही थी। जैसे वही आधार है, वही उसका प्राप्य है। उसे आधार मान कर वह अपने को तौलने लगी। उठी, दीवार का सहारा छोड़ दिया। किसी को न पुकारा। बाथ-रूम में गयी। आकर कपड़े बदले और आइने के सामने खड़ी हो गयी।

बाहर से तो वह स्वस्थ है। आँखों में रक्त है। मुह भरा हुआ है। ग्रीवा, भुजाये, सब अनुकूल है। तब भीतर क्यों इतना असाध्य हो रहा है ? यह बला की कमजोरी क्यों ?

उससे कुछ न सोचा गया। यह अनुभव अवश्य हुआ कि जो उसका असाध्य है, निर्बल और आहत है, वही उसकी शक्ति है, वह जिधर चाहता है, गिन्ता उधर ही मुड़ जाती है।

जहाँ देवन सो रहा था, वह मुड़ी हुई उधर ही गयी। पलँग पर बैठी, और उसके बिखरे हुये बालों को सहेजने लगी।

देवन ने आँखें खोली, पर अपने आप ढँप गयी।

धीरे से बोला, "बुखार उतर गया ?"



“लो, देखो ।” अपने पूरे मुख को देवन की बन्द आखों पर रख दिया ।

“मैं ठीक हूँ, दो-चार दिनों में बिल्कुल ठीक हो जाऊँगी । अभी मैंने तौला है ।”

रुककर बोली, “उठो, मैं ‘बेड-टी’ लाती हूँ ।”

भावों में भरी हुई चली गयी । चाय लेकर लौटी । जब वह पी चुका, तब गीता बोली, “जीवन का सब से बड़ा लक्ष्य जीना है देवन । इसे यहाँ आकर मैंने पाया है । मुझे यह भी लगा है, कि हम बदल गये हैं, पर जीते पुराने ढंग से हैं । हमारा जीना हमें नहीं बाँध पाता । उसे बाँधने के लिये, हमें इस तरह जीने के मोह से अलग होना पड़ेगा ।”

आया की गोद में सागर रोया । गीता खिंची हुई बाहर चली गयी । सागर को गोद में लिये लौटी ।

देवन सोफे पर बैठा सिगरेट फूक रहा था ।

गीता खड़ी-खड़ी सागर के कंधे को चूमने लगी । वह खिलखिला कर हँसने लगा ।

माँ सागर की वाणी में अपने को घोलकर कहने लगी, “पापा जी छे नमस्ते कल ले भइये ! कह दे कि पापा जी, ओ पापा जी । छेव करो, बाथलूम जाओ, कपले बदलो, नाछता कलो और गुनगुनाने हुये अपने काम पल जाओ । हम तुम्हे बाँधेंगे नहीं । जो बाँध लखे, जीवन के लिये उछाह न दे, वह कैछा लाजा बेटा ! कैसी मम्मी ! कैछा कौन ? हम ऐछे नहीं हैं पापा जी ।”

कहते-कहते गीता का कंठ भर आया ।

गीता वहीं बैठ गयी । देवन बाथ रूम की ओर चला गया ।

सागर फर्श पर खेलता रहा । न जाने कैसे-कैसे वह सोफे के पास से वहीं बोतल खींच लाया ।

गीता ने बोतल सम्हाल ली । देखा, बोतल से शराब खाली हुई है । देवन ने तब भी पी है ।

तब मैं असत्य हूँ । मेरा सत्य बनावटी है, क्योंकि वह देवन को बदल न सका । प्रेम भ्रम है, वह देवन को प्रभावित न कर सका । इन सब के परे जो सत्य है वही तीव्र है, वही शक्ति-मय है । मैं देवन के साथ-साथ हूँ, पर यह कितना अकेला है ।

गीता श्रीहृत् थी । इस आदमी के अकेलेपन के पीछे जो प्रेरणा है वह कैसी है ! और उसे पीने के लिये गीता की औरत को किस अगस्त मुनि की भोंति बनना पड़ेगा ।

सागर को वही छोड़ वह अपने कमरे में चली गयी और औधी पड़ रही । एक शून्य उसमें भर रहा था, पर एक शून्य से वह मुक्ति भी पा रही थी ।

सागर को गोद में उठाये हुये, देवन गीता के पास आया, खड़ा-खड़ा सोचता रहा । फिर देखा । ठीक से लिटा कर उसे शाल से ढक दिया और पूरे पलंग पर मच्छरदानी गिरा दी ।

डाक्टर के पास गया । एक टोकरी फल लेकर लौटा, आया को सब कुछ बताकर वह आफिस जाने की तैयारी करने लगा ।

जाने के पहले वह फिर गीता के सरहाने आ खड़ा हुआ । गीता के मुख पर एक नया मुख देखा, नयी आकृति देखी । जैसे पीली चाँदनी । चाँद का पीला मुख । रक्त से शून्य सफेद मुख, भाव-विहीन दो बड़ी-बड़ी कजरारी आँखें , जिन पर नींद और थकान बरस रही हैं ।

उसके मन में भाव आया कि बोतल की शेष शराब वह उस थके मुह पर उड़ेल दे और एक साँस में सब पी ले । एक घोर विस्मृति में वह उसे लिये हुये चला जाय । वही छोड़ आये उसे, और स्वयं कहीं और भाग कर भर ले, या खो जाय ।

अर्द्ध निद्रित पड़ी थी । कभी आँख खुल जाती, कभी अपने आप मुद जाती । पर जितने क्षणों के लिये मुदती, उतने में वह एक-न-एक स्वप्न की टूटी हुई, अधूरी आकृति देखती, जिसे वह पूरी बना लेती ।

एक बार देखा, दिल्ली की शकुन जिया आयी है । गीता रो पड़ी

और उसकी गोद में सर गाड़े-गाड़े सो गयी। एक बार देखा, प्रतापगढ़ से सरोज आयी है। उसी क्षण वह जग गयी।

कमरे से बाहर निकल आयी। जाकर हाथ-मुह धोया। आया के पास बैठी। सागर को खेलाती रही। फिर मन में आया, वह शृंगार करे। आज प्रतिमा जिया की भाँति सितार बजाये !

शृंगार करने बैठी। दर्पण में एक और गीता आ गयी। वह हँसने लगी उस गीता पर, जो छाया है प्रतिबिम्ब है; जिसे वह कभी नहीं पकड़ पाती, आदर्श में दोलती भागती है। आदर्श पत्नीत्व के लिये, मातृत्व के लिये, एक शान्त, स्वस्थ नैसर्गिक गृहस्थी रचाने के लिये।

सत्य गीता अपनी छाया पर हँस आयी। पर छाया भी हँसती रही—मैं सुहागन आदर्श हूँ, कल्पना नहीं। कल्पना पुरुष में बसती है, वह एक से विवाह करता है, सत्य के लिये—जो सत्य तुम हो, पुरुष पर जैसे लादी हुई। प्रेम के लिये वह एक और स्त्री सदा अपनी कल्पना में रखता है। वही अतृप्ति उसकी भूख है, दृष्टि है, जिसके बीच से वह देखता है।

दर्पण के सामने से गीता हट गयी। पलट दिया उसे। उसका कुछ हँसता था, कुछ रो रहा था।

थके, निर्बल हाथों से वह सितार बजाने बैठी। धीरे-धीरे उस में से मालकोष का गत उभरने लगा—ओ ! देवन की कल्पना में बसी हुई ! मैं तुम्हें मारना नहीं चाहती, इसलिये तू उसे न मारना जिसमें तू व्याप्त है। मैं तुम्हें श्रद्धा देती हूँ, चाहोगी तो उत्सर्ग भी दूगी।

न जाने कब घुटने के बल सागर आया। माँ के दायें हाथ पर झूल गया।

सागर को गोद में उठा, वह बाहर चली आयी। उसे गुदगुदाती हुई हँसकर कहने लगी—“तू किछे कल्पना में लखेगा ? नहीं लखेगा ? बड़े अच्छे लाजा बेटा ! राम राम कहो बेटे ! राम ! राम ।।”

टहलती-टहलती मिसेज घोष के यहाँ चली गयी। एक कमरे में सब

चुपचाप बैठे, जैसे रो रहे हो। घोष बाबू भी थे। गीता उल्टे पाँव लौटने को हुई कि मिसेज घोष निकली। आँखें तो सूखी थी, स्वर भारी थे—  
“वनश्री कहीं भाग गयी बहू ! न जाने, क्या हो गयी, आज पाँच दिनों से गायब है !”

एक क्षण निश्चेष्ट रहकर फिर रो आयी। सब पीकर कहने लगी,  
“और कोई बात नहीं है, बस दो चीजों को सोचकर कलेजा सुलग रहा है वह कहीं बिक न जाये, कहीं आत्महत्या न कर ले !”

गीता भागी वहाँ से। उस से अपने को बाँधकर मन की शान्ति के लिये पीछे-पीछे मिसेज घोष भी चली आयी।

“जब वह चली ही गयी, वह फिर मेरे पास कभी न लौटे, लेकिन चाहती हूँ कि वह जिये।”

गीता ने कहा, “जीने के लिये ही तो वह गयी होगी।”

“ऐसा ही हो, परन्तु...।”

समूचा मुख सुख हो आया। अपने को सम्हालती हुई बैठ गयी।

आश्वस्त हो बोली, “गीता बेटा ! मेरी बड़ी साध थी कि मैं अपनी बेटियों को बहू रूप में पति के घर भेजती, उन्हें अपने घर बुलाती। प्रतिमा का विवाह किया, पर वह सुहागन होकर भी पति के घर न रह सकी। पति ने यह निर्णय दिया कि दूल्हन को तपेदिक है। और वनश्री, जो वनश्री थी....।”

आवेग में कुछ न कहा गया। चुप होकर जैसे ठडी हो गयी और वह ठंड, वह सन्नटा गीता में भरने लगा। तब उसने सागर के नन्हे वक्ष में अपने मुह को इतनी तीव्रता से गड़ा दिया कि वह रो उठा।

और उसे चुप करने में वह व्यस्त बन गयी। मन में, समूचे अस्तित्व से एक क्रान्तिमयी पर बेहद ठडी आवाज उभरी, जो भीतर ही भीतर एक घुमड़न लिये चीखने लगी—जो साध्य है, इच्छा है, कामना और स्वप्न है उन्हें मारो नहीं माँ ! स्वयं मर जाओ। उनकी मुक्ति के लिये रोओ नहीं। विश्वासघात होगा। अभुक्त है, तो और भी पवित्र रहेंगे।

थोड़ी-थोड़ी उमस थी। दोपहर का सूर्य वर्षा के बादलों में खो गया था। हवा कहीं जाकर थम-सी गयी थी। कमरे में पखा खोलकर गीत देवन के लिये रुमाल सिल रही थी। एक दर्जन हो गया था, दूसरे दर्जन में लगी थी।

डोरे-सूई, मशीन और कपड़े के बीच उसने अपने को खूब जकड़कर बाँध रखा था। मशीन रुकी, ध्यान बँटा नहीं कि वह अपने भँवर में फँस जाती थी। इसलिये वह रुई सूत में अपने को डालकर सतत् बाँधती चल रही थी। सूत उलझता तो उसे खोलने लगती, गाँठ पड़ता देख, भट उसे तोड़ देती। और भी फँसान जब आती तो उसे अपने से अलग कर लेती।

दूसरी ओर आया बैठी, सागर को खेला रही थी। उसके कंठ से उसी के गीत का एक टुकड़ा बार-बार गुनगुनाया जा रहा था—

‘छाती चुरइली बेटी; नयन डरे लोरवा,

अब सुबरी भडलू पराय रे।

जाहु हम जनिती धियवा कोखी रे जनमिहि

पिहित्यो मैं मिरिच भराय रे।’

गीता देखते-देखते उलझ गयी। उसकी उँगली में सूई चुभ गयी। सूत उलझ गये।

स्वर में भट कटुता भर कर उसने कहा, “आया, जाओ यहाँ से।”

सागर को लिये आया उठी तो उसकी मुद्रा में हैरानी और विस्मय के रंग थे।

गीता बोली, “सड़क पर टहला लाओ, बारिश होने लगे तो भाग आना।”

चली गयी, घर सूना हो गया।

हार कर गीता उठी। कमर सीधी करने के लिये उसने एक अँग-ड़ाई ली। आँखों में अँधेरा छा गया। सारा ब्रह्मांड जैसे घूम गया और वह वही गिर पड़ी।

भट्ट सम्हालकर उठी। दौड़कर तुलसी के पौदे से हरी पत्तियाँ चुन कर उसने मुह में डाल ली।

सहसा देखा, चित्रा आयी है।

सम्भ्रम से दोनों के हाथ जुड़े। चित्रा के गिर गये, पर गीता के जुड़े रहे—जुड़े रहे, जैसे उन हाथों का वही जीव्य था, धर्म था।

चित्रा ने उन जुड़े हाथों को अपने अक में ले लिया। और अपने समूचे अस्तित्व से कुछ ऐसा उपक्रम करने लगी कि तरुण गीता माँ हैंसे—हैंस आये और सग में वह स्वय हैंसे।

“रुमाल बना रही थी?”

गीता हिली तक नहीं।

“एक रुमाल मैं ले लू?”

गीता ने सब उसके अक में डाल दिया। और ऐसी सूनी दृष्टि से उसे तकने लगी, जिसमें स्पष्ट स्वर थे—“और! और मागो! माँगती जाओ। चुप न रहो। बोलो और क्या चाहिये?”

बड़ी देर तक चित्रा निश्चेष्ट बैठी रही, और बार-बार अपने मस्तक पर रुमाल फेरती रही।

सम स्वर में बोली, “आज मैं तुम से एक बात कहने आयी हूँ। समय ने विवश किया है, और कहने की उसने स्थिति भी ला दी है। वह कोई बात नहीं है, एक सत्य है जो हमारे बीच में घुटकर फैल गया है, जो अपनी सफाई के लिये तुम से दया का भीख माँगता है, क्षमा चाहता है।”

कहते-कहते वह रुक गयी।

बल सँजोकर बोली, “जिस घड़ी मैंने तुम्हे देवन की पत्नी-रूप में देखा था, मुझे स्पर्द्धा और ईर्ष्या हुई थी। जिस दिन तुमने अपनी आया के साथ मेरे घर आकर ओम से अपने को तोड़ा था, तब मुझ में प्रतिशोध जगा था। उस जलन में पहले मैंने अपने को देखा, अपना अतीत पाया, फिर ओम को पहचाना, बल्कि पहचानने की स्थिति मिली—

तुम्ही ने दी, देवन से ओम को निस्सग बनाकर । फिर मुझ मे मेरी वेदना जगी, उसमे मैंने तुम्हे और तुम्हारे देवन को पहचाना और तब मुझे तुम्हारे जीवन से मोह होने लगा ।”

चित्रा का स्वर भारी हो गया, “कुछ नहीं समझीं ?”

“समझ रही हूँ ।”

चित्रा बरस-सी आयी, “नहीं, नहीं समझी तुम ! मैं आज कह डालूंगी अपनी मुक्ति के लिये ।”

आवेग से कहने चली तो गीता ने उसके जलते मुख पर अपना हाथ रख दिया, “मैं नहीं चाहती, न कभी सोचूंगी ।”

दोनों चुप हो गयी । अजीब-सा सन्नाटा वहाँ घर करने लगा, जैसे अस्तित्व ही सन्न हो गया हो ।

चित्रा फूटी, “मेरा स्त्री नाम है, पर हूँ नहीं, यह तुम्हे अनुभव करके मैंने जाना है । तुम्हारी गृहस्थी, तुम्हारे आदर्श, तुम्हारी मान्यताये मुझे नहीं मिली । मुझे उन अभावो की कभी अनुभूति भी न हुई । अनुभूति तब मिली, जब मैं खो चुकी । मेरा सब कुछ पीछे है—छुटा हुआ, तुम्हारा अभी सब कुछ आगे है । उस पर मैं अपनी छाया नहीं पड़ने दूंगी ।

एकाएक वह चुप हो गयी, जैसे स्वर और लहरो मे घूमते हुये सगीत को अचानक अपना सम मिल गया हो ।

चित्रा !

आरक्त मुद्रा मे निश्चेष्ट बैठी हुई, रोये हुये शिशु की भाँति लग रही थी ।

गीता !

देवन की कल्पना, उसकी दृष्टि, उसकी घुटन और भूख जैसे सब नंगी होकर एकीकृत हो गयी और गीता मे फैलने लगी । उसने देखा, जैसे सामने की स्थूल प्रभुविष्णु चित्रा पिघलकर छोटी होती जा रही है ।

आवेग से गीता ने बढ़कर चित्रा को अपने कंधे से चिपका लिया और उसके भीतर का सारा तनाव टूटने लगा । उसका सर पर हाथ फेरती हुई

वह बोली, “तुम मे अपार शक्ति है चित्रा । तुम दर्पण हो, जिसके भीतर से लोग देखना चाहते हैं ।”

“मैं उसे अधा बना लूंगी ।”

वर्षा की बड़ी बड़ी बूंदें गिरने लगीं । सागर को लिये हुये आया लौटी । तेजी से चित्रा जाने लगी । गीता ने उसे बाँधना चाहा, पर वह रुकी नहीं । तेज वर्षा के बीच से वह पैदल भागने लगी ।

गीता ने धूम-धूम कर उसे निहारा, पर जाने वाली तो भीगती हुई भी चली जा रही थी, चली जा रही थी ।

कई दिन हुये, देवन ने गीता से स्पष्ट कह रखा था कि उसके दफ्तर में काम बहुत बढ़ गया है, इसलिये चाय पर, खाने पर उसका इत-जार न देखा जाय । जिसे जीना है वह अपने-आप खा-पी लेगा ।

अकेली जब वह चाय पीने बैठती, तो वह आया को अपने पास बिठा लेती । कोई खिलौना पकड़ाकर, बीच में सागर छोड़ दिया जाता । तीन कप चाय बनाती । एक आया को देती । एक कप की चाय में उँगली स्पर्श कर उसे सागर के ओठ से चढा देती । जब वह नन्ही, पतली जिह्वा से उस रस का स्वाद लेने लगता, तब वह स्वयं चाय पीने लगती ।

उस समय वह सोचती, देवन अपने को कितना अकेला बनाता चल रहा है । यह क्या है ? क्यों है ?

बार-बार उसके मन में यही बात उठती कि गीता माँ, तू अतिरिक्त रूप में उसके साथ गुथी है, उस पर ऐसी लदी है, जो बोझिल है, अडोल और अव्यय है ।

और चित्रा ?

वह जो अद्भुत है !

वह तो मुझे उन्मेष देती है—अनोखी दृष्टि । मुझे एक अप्रतिम गरिमा



गीता ने तब स्पष्ट जान लिया, उसका देवन पर कोई प्रभाव नहीं है। वह ऊब गया है, उसका मौन, हम दोनों की उपेक्षा है।

और यहाँ दोनों का आत्मसम्मान घटता है। उसकी गृहस्थी, उसके प्रति चित्रा की धारणा, सब कलकित होने लगती है। स्वयं उसके देवन का स्वरूप बिगड़ने लगता है।

उस घड़ी पूरे चाँद की रात थी। कहीं बादल न थे। हवा थी, और उसकी व्याप्ति भी थी। समय आधी रात से आगे बढ़ रहा था।

गीता उठी। ठंडे पानी से आँखें धुली। गला साफ किया। कुछ देर बिजली और तार के खम्भों पर बरसती हुई चाँदनी को देखती रही। फिर अपने घर के सन्नाटे को देखने लगी। जिस बुरे की व्याप्ति थी, जो कुछ भी अभिशप्त था, एक-एक को वह अपने में समेटती गयी।

फिर एक अप्रतिम बल और उत्साह से वह देवन के पास गयी। अधिकार-पूर्वक उसे जगा लिया।

विराग से बोली, “मैं कल ढाई बजे की मेल से बनारस चली जाऊँगी।”

देवन निश्चेष्ट था, बल्कि ठंडा पड़ा रहा।

कुछ देर गीता भी चुप थी।

दृष्टि गिराती हुई कहने लगी, “चाहो तो आया को रखे रहना, नहीं तो जवाब दे देना, जैसी सुविधा हो।”

देवन कुछ फाड़-फाड़ कर देख रहा था, या देखना चाहता था, पर दृष्टि कहीं जम नहीं पा रही थी। या उसमें कुछ और व्याप्त थी, जो बहुत दिनों की थी तथा वह ‘और’ उसकी दृष्टि हो गयी थी। उसी दृष्टि को तोड़कर वह देखना चाहता था।

उसने आहत स्वर से पूछा, “बनारस जा रही हो? क्यों, क्या बात है?”

“कोई बात नहीं है, वैसे ही, जैसे बहू अपने पीहर लौटती है।”

“कि जाती है?”

गीता सर हिला कर रह गयी । दोनों चुप हो गये । और धीरे-धीरे एक मौन खिचता गया । जैसे 'कोई बात नहीं' के अन्तस् से वह बात सन्नाटे के रूप में फैल रही हो, जो एकात सत्य थी, व्याप्त थी, कठ तक हँधी थी ।

“कुछ कहोगे नहीं ?”

देवन जैसे कुछ स्मरण कर रहा था, पर बाँध नहीं सक रहा था । गिरी वाणी से कहा, “मायके जा रही हो । ज्यादा दिन हो गये एक जगह रहते रहते ?”

गीता फूट-सी पड़ी, “यह नहीं देवन !.....” गले तक भर आये हुये को वह सयम से पी गयी, बस इतना ही छलका, “मे जा रही हूँ बस, और कुछ नहीं !”

देवन न जाने क्यों मुस्करा आया, पर भट उसे गम्भीर बना लिया । फिर अपने को ढीला कर निष्क्रिय हो गया । जैसे थककर लँगने लगा । जिस से आँख मुदी रहे । दृष्टि मिले नहीं ।

गीता ने कहा “तुम्हे सुविधा हो तो मुझे गाड़ी पर बिठा देना, नहीं तो आर्यादादा को सग कर देना !”

“यही अच्छा होगा !”

बेहद ठंडा था स्वर । गीता छू गयी । रोने को आयी । भट भागा वहाँ से । बाथ रूम में गयी । निःशब्द रोती रही और नल खोलकर साथ ही साथ आँखे धोती रही ।

हृदय थमता ही न था । अपना अभियोग, अपना निर्णय, स्वयं का न्याय, पूरा अस्तित्व पिघल रहा था । पर गीता अपनी वेदना की एकात सत्ता से विद्रोह कर रही थी । उसके हाथ, पाँव, मुह नासिका, जाँघ, कटि, वक्ष सब उसके साथ पर जैसे वही अपने साथ न थी ।

वह चौंके में गयी । रोशनी की, और खड़ी-खड़ी अपनी माँ, पापा, जिया और अपने अध्ययन की सुधि करने लगी । लेकिन यह सुधि तो पीछे रह जाती थी आगे और अनेक सुधियाँ पंख बाँधे फट पड़ रही थी ।

“प्राइवेट शिक्षा कोई पथ है ! न वातावरण मिला न विकास, न दृष्टि । सब अधूरा, सब सिमटा-सिमटा ।”

‘शरीर, आकृति, रूप-विन्यास, औरत यहाँ देखी जाती है ।’

‘तुम्हारी निरपेक्ष सत्ता, तुम्हारी अपनी गरिमा, जिससे मैं दमन चाहता हूँ, विनय नहीं, सेवा नहीं, पराजय नहीं ।’

‘घर-आँगन, दीवारे, पूजा-पाठ यह सब क्या है ?’

अपनी आत्मा से विद्रोह करके गीता इन सुधियों से पीछा न छुड़ा सकी । वही, उमी प्रकाश और सन्नाटे में वह अपने को जकड़ कर बैठ गयी । मुह को अक मे झुका लिया—झुकाती चली गयी । वक्ष की गहराई में समा गयी—तो मुह छिपाने के लिये प्रकृति ने मुझे वक्षस्थल में इतनी गहराई दी है ।

गीता के भीतर कुछ हँस आया । आत्मगौरव से वह भर आयी—यह गहराई तो मेरा सागर है । अनन्त है, जिसकी मैं माँ हूँ—जिसकी यह ‘डी हेविन’ की गृहस्थी है—जिसका पति देवन है ।

वह अपने-आप में बँधती गयी । जो बिखर रहा था अपने-आप समन्वित होने लगा ।

चौका जलाया । घी, चीनी, मैदा, दूध, मेवे और बेसन आदि सब साधनों को उस ने अपने चारों ओर फैला लिया ।

देखते-ही-देखते उसने कई तरह की मिठाइयाँ बना डाली । कई तरह के नमकीन ढेर कर दिये । उन्हें एक-एक करके नाश्तेदान में भरा, आलमारियों में रखा । फिर भी जब कुछ सामान उचित बर्तन में रखने से बच गया, तो उन्हें प्लेटों में सजा दिया ।

फिर उसे ध्यान हुआ, मुबह हो गयी है । आया आ पहुँची है । सागर उठ गया है जिसे आज रोना नहीं आया । पलँग पर खेल रहा है । देवन सब देखता हुआ खड़ा है—अवश, निरपेक्ष ।

तभी आया को पता चल गया कि रानी बहू बनारस जा रही है । क्यों एकाएक—अकस्मात् जा रही है, इस पर गीता ने उसे दबा लिया, “यह

गाडी ने पहली सीटी दे दी। देखते ही देखते दूसरी भी। सहसा गीता की भाव दृष्टि में आया—कहीं देवन छिपा खड़ा है। आखिरी टी-स्टाल के पीछे जो पानी पीने का नल है, जहाँ 'साफ मिट्टी' लिखा हुआ है, उसके पास।

देवन मैं वहाँ नहीं आऊँगी, मेरी गाडी छूट जायगी।

तीसरी सीटी हो गयी।

तब वह दृष्टिछाया गीता के पास दौड़ी और खिड़की से लटक गयी।

गीता ने अपने मन में उत्तर दिया—मैंने कहा था न देवन, मुझे दक्षिण की यात्रा बहुत प्रिय है। मेरा बहुत जी होता था, मैंसूर घूमने के लिये, अजता देखने के लिये, समुद्र-तट पर खड़ी होने के लिये, मैं आज उसी यात्रा पर जा रही हूँ। तुम्ही भेज भी रहे हो।

धक्का देकर जब गाडी प्लेटफार्म छोड़ने लगी, तो वह बेहोश-सी हो गयी। लगा, खिड़की से लटकी हुई छाया गीता स्वयं है, और यात्रा करने वाला देवन है, जिसने लटकी हुई छाया से एकाएक अपनी खिड़की छुड़ा ली है।

अपने को खूब थकाकर, विस्मृति में गाड़े हुये देवन 'डी हेविन' लौटा ।  
जीने के ऊपर बिजली की रोशनी अभी बुझी न थी ।

संभवतः देवन के फलैट में बाहर से ताला पड़ा देख कर मिसेज घोष ने  
बुझाया ही न था ।

कुछ क्षण बन्द ताले को मजबूती से खींचे हुये देवन चुपचाप खड़ा था ।  
फिर कुजी निकाल उसे खोलने लगा । बड़ा ताला, बड़ी-बड़ी कुजी, ऊपर  
बिजली की रोशनी, पर ताला खुल न रहा था । कुजी ताले में जा ही  
न रही थी ।

हाथों को जितना ही बल में करता, कुजी उतनी ही फिसल कर  
काँपती जाती ।

जब देर होने लगी, तो वह बन्द किवाड़ को धक्के से खोलने लगा ।  
दौड़ी हुई मिसेज घोष आयी । देखकर घबड़ा गयी ।

ताला खोल कर देवन को भीतर ला खड़ा किया ।

कातर स्वर में पूछने लगी, "गीता कहाँ है ? कहाँ है गीता ?"

देवन ने भट एक कागज पर लिख दिया—‘बनारस गयी ।’

सूने घर में जब देवन खड़ा हुआ, इधर-उधर जब दृष्टि घूमी, तो उसकी सारी थकान, जो नींद के लिये थी, सारी विस्मृति, जो शान्ति के लिये थी, धीरे-धीरे काफूर होने लगी । घर का सारा सूनापन उस के भीतर खिचने लगा ।

लग रहा था, ‘डी हेविन’ से गीता और सागर कही गये नहीं हैं । एक-एक वस्तुओं में, दिशि-पलो में चुप खड़े हैं । कोई आवाज उभर रही है, जो फैसला माँगती है !

देवन ने बहुत दिनों की बन्द एक आलमारी खोली । उस में एक चिर सचित्र और एकान्त इच्छा का साहित्य था । कुछ तस्वीरों वाली किताबें, कुछ मोटी-पतली अँग्रेजी की पुस्तकें, शेष आलमारी में खाली बोतल और डिब्बे ।

उस असह्य पृष्ठों का साहित्य उसने क्षण भर में पलंग पर बिखेर दिया, जो उसके लिये स्थूल शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, और उनके माँसल उपभोग हैं ।

गीता से पहले, जिस रात उसे नींद न आती थी, तब वह इसे ही पढ़ता-पढ़ता सो जाता था । आज देवन को वैसी ही नींद चाहिये । वही नींद, वही विस्मृति ।

सारी तस्वीरें देख गया, फिर पढ़ने बैठा । युक्ति सफल न हो रही थी । आँख, दृष्टि, मन, समवेदना—सब बिखर-बिखर जाती थी ।

उसे एक नयी युक्ति सूझी ।

टाइपरायटर उठाया । कागज भरा । और उसमें से एक किताब के कुछ पृष्ठों को टाइप करने लगा । करता गया । पूरी किताब समाप्त होने को आयी, तब उसे होश हुआ—उसे नींद तो नहीं आयी । वह सब कुछ तो नींद के लिये था । पता नहीं, नींद किसके लिये थी ।

वह कमरे से उठकर बाहर आया। सुबह हो रही थी। उसे अचरज न हुआ, ग्लानि हुई—रात बीत जाने पर। जगी हुई रात।

घर से निकल कर बाहर टहलने के लिये निकला। सड़क पर आते-आते उसके पैर कँपने लगे। थकान से पूरे शरीर में जकड़न भर रही थी। फिर भी वह टहलना ही श्रेयस्कर समझता था।

कुछ दूर जाने पर उसे भूख मालुम होने लगी।

‘डी हेविन’ लौटा। गीता की बनायी हुई मिठाइयाँ नमकीन, और उन पर उसकी पतली-पतली उँगुलियों के स्पर्श, धब्बे, वह सब को देखता। न खाने के लिये सकल्प करता, पर खाता गया। भूख भर खा चुकने पर उसे होश हुआ—शेष नाश्ते को वह आफिस में बँटवा देगा। उसे दया नहीं चाहिये।

चपरासी के हाथ उसने दफ्तर भेज भी दिया और बड़े बाबू को लिख दिया—‘दफ्तर में यह सब बॉट दिया जाय !’

आया पहुँची। देवन सोफे पर ही सो गया था। खड़ी सोचती रही। हिम्मत बाँध कर उसे शिशु की तरह सँभाल उसी सोफे पर ठीक लिटा दिया, और उस पर हल्की-सी अटी डाल दी।

बहुत धीरे-धीरे, निस्वर कमरे को झाड़ने-पोछने लगी। नाश्ते का समय हुआ, चाय बनाने लगी। पानी को कई बार खौलाया, ठंडा किया, फिर खौलाया और बैठी-बैठी साहब के जगने की राह देखने लगी।

दस बज आये। फिर भोजन बनाने की बात सोचने लगी। दो सब्जियाँ तैयार कर ली; और चुप बैठी रही।

मिसेज घोष आयी, प्रतिमा आयी। पर आया ने किसी से कोई विशेष बात न की।

न जाने क्यों, कैसे, नीचे से मिसेज पाल सिंह भी आयी। हलो! हलो! करती हुई साहब के कमरे में जाने लगी, आया ने उन्हें कमरे से बाहर खींच लिया।

अधिकार से कह दिया, “इस तरह आप ऊपर न आया कीजिये ।”  
उसे निकलवा देने की धमकी देती हुई वह नीचे उतर गयी ।

सर भुकाये वह चौके के सामने बैठी ।

डेढ बजते-बजते देवन की आँख खुली । खुली क्या, उसे होश हुआ ।  
दौड़ा पलँग पर जा गिरा और अँगड़ाइयो से अपने शरीर को तोड़ने लगा ।

आया सामने पहुँची, “चाय लाऊँ ? या भोजन कीजियेगा ?”

देवन सूनी, टिकी हुई दृष्टि से आया को आधार बनाकर देखता रहा—गीता खडी है, जिसके पीछे चित्रा खडी हँस रही है ।

बिना कुछ बोले वह कमरे से बाहर चला आया ।

समय देखा ।

आया से पूछा, “क्या कहा ?”

“चाय बनाऊँ ? खाना वैसे तैयार है ।”

एक क्षण देखकर कहा, “मैंने तो कल तुम्हे जवाब दे दिया था, मुझे अब तुम्हारी नौकरी की कोई जरूरत नहीं !”

आया को गीता याद आयी—‘आया देखना, जो साहब कहेंगे, उसे मानना, जवाब न देना ।’

आया सर भुकाये रही ।

“जवाब क्यों नहीं देती ?”

“रानी बड़ ने जवाब देना मना किया है ।”

रुक कर बोली, “मेरी नौकरी न सही, साहब बाबू ! मैं वैसी ही आया करूँगी । आँगन धो दूगी, कमरे झाड़ पोछ दूगी । और आपका भोजन बनाकर चली जाया करूँगी ।”

“बको मत ।”

आया सामने से हटकर चौके में चली गयी । चाय तैयार कर, चुपचाप देवन को दे आयी ।

उसी भाँति खाना भी खिला दिया ।



अगली चार राते और तरह बीती । 'डी हेविन' की छाया से दूर,  
और घरों में, क्लबो के फर्श पर ।

मुहम्मद बाग ।

लखनऊ क्लब ।

लाल बाग ।

नरही । जेमखाना क्लब में एक रात उसने चित्रा को देखा । किसी  
पायलाट अफसर के मँग थी । वहा कही ओम न था ।

और दूसरे बेंड के बजते ही उसने देखा, उस व्यक्ति के साथ चित्रा  
बाहर चली जा रही थी ।

दूसरे दिन, नौ बजते-बजते जब देवन आफिस जाने की तैयारी कर  
रहा था, उसके घर चित्रा आयी ।

देखते ही देवन उद्दीप्त हो आया ।

देवन से कुछ पूछा नहीं, गीता को ढूढने लगी । दो बार पुकारा भी ।  
तब देवन से बोली, "गीता नहीं है क्या ?"

"पता नहीं, पुकारो न उसे !"

एक क्षण खड़ी रही । फिर तेजी से नीचे की ओर मुड़ी । देवन ने  
बढकर उसे पीछे से पकड़ लिया । कमर से उठाये हुये वह अपने ड्राइंग रूम  
में आया और उसे सोफे पर पटक दिया ।

"क्या चाहते हो ?" निश्चेष्ट-सी वह बोली ।

"मौत !"

"मेरी ।" चित्रा ने कहा, "मैं स्वयं कर लूंगी तुम अपना हाथ  
क्यों रँगोगे ?"

"क्योंकि मैं अपनी भी चाहता हूँ ।"

चित्रा उठने लगी । देवन ने निर्ममता से उसे अपनी बाहुओं में जकड़  
कर भीच लिया । जैसे वह अपने को बाँध कर तोडना चाहता हो ।

काँपते स्वरो में कह उठी, "इससे कुछ नहीं होगा देवन ! इस शरीर  
ने हमारा विश्वासघात किया है । यह शरीर है, आकृति है, यह भूख

देती है, और उस भूख को यह कभी शान्ति नहीं देती। उद्दीप्ति देती है।”

“बको नहीं।”

“मुझे घृणा हो गयी है इससे। यह शरीर मुझ पर बोझ-सा है। मैं चाहती हूँ, यह कहीं खो जाय। उतर जाय मुझ पर से।”

देवन ने उसे ऊपर से नगा कर दिया। एकाएक चित्रा के कानों में एक भयानक चीख सुनायी दी—किसी माँ की, किसी श्रेयस् की। ऐसे भाव की, जिसे कहीं शरण नहीं मिली है। शक्ति से चित्रा देवन के सामने शत्रु-सी खड़ी हो गयी। ऐसी घृणा, इतनी उपेक्षा अपनी दृष्टि में भरकर वह उसे तकने लगी कि देवन कँप गया।

वह पहचानी न जा सकी।

बेहद कटुता से कहा, “रुको, मैं फिर अभी आती हूँ।”

देवन को वही, जैसे कीलों में ठोक कर वह नीचे उतर गयी। आया कुछ सामान लेने बाजार गयी थी। लौटी, चौके में चली गयी।

सचमुच चित्रा लौटी। रेकशे वाले ने एक ट्रक ऊपर ला दिया।

“यह तुम्हारा ट्रक है देवन। इसे सँभालो!”

देवन खड़ा रहा। उसकी अनुभूतियों में धीरे-धीरे कुछ उद्दीप्ति होने लगा।

सामने बढ़कर उसने दीवार थाम ली।

चित्रा कह रही थी, “बहुत दिन हुये, इस भरे ट्रक की ताली मैंने कहीं फेंक दी। इसे तोड़ लेना, आई हेट यू, एण्ड माई सेल्फ मोर, एण्ड ऑल दैट, ह्वैर, वी ऑर।”

पर यह कहते हुये, चित्रा के मुख पर कहीं घृणा, कोई कटुता न उभरी, कुछ और ही झलक आया—वेदना, असीम पीड़ा, और उस पर करुणा का स्पर्श।

मुख की उन रेखाओं के साथ, देवन ने ट्रक को देखा। भीतर ही भीतर वह लड़खड़ा गया।

दोनों हाथों से दीवार थाम ली।

चित्रा पास आकर बोली, “पुरुष, दीवार थामे क्या खड़े हो ? मुझे भारते क्यों नहीं ? मुझे ढकेल कर अपनी सीढ़ियों से गिरा क्यों नहीं देते ? हाऊ मीन आई एम यू मस्ट हेट मी !”

देवन मे कुछ उत्तेजित हो आया । दायों हाथ भीचकर वह आवेश मे घूमा, पर अपने-आप ही मे ठडा हो गया ।

भाव-त्रस्त हो, वही सोफे पर बैठ गया । दोनो हथेलियों मे अपने मुख को टिकाये बिल्कुल ठडी दृष्टि से अपलक उसे देखता रहा ; वह लौटने लगी तो देवन ने जैसे अपने पर व्यग्य किया, “और क्षमा भी चाहती हो न ।” “नही ! कभी नहीं !” चित्रा के स्वर मे एक शक्ति थी ।

फूट कर देवन हँस आया, “क्योंकि वह मेरे हाथ मे है !”

“नही, वह किसी के पास नहीं है, मैंने खूब देखा है, वह सिर्फ गीता के पास है ।”

नीचे देखती हुई कहने लगी, “मैं बदला नहीं दे सकती । पर जो कुछ भी मुझ मे शेष है, यह उसी का स्वर है कि तुम्हे जल्दी से रास्ता मिल जाय । मेरी भटकन तुम्हे मुक्ति दे । तुम्हे अपनी दृष्टि मिले ।

एकाएक उसे लगा कि देवन उसे बाँधने आ रहा है । वह फिर जग गयी । देवन पास आ खडा था ।

सामने से चित्रा जाने लगी । इस बार उसके घूमे हुये पाँव थके-थके से थे । जीने से उतरती हुई वह अपने दोनो हाथों से दीवार का सहारा लेती चल रही थी ।

सड़क पर उतरी । पाँव से लँगड़ा रही थी ।

घूम कर देखा नहीं, सामने देखती चली गयी ।

चित्रा और गीता

चित्रा का यह रूप सुनकर, देवन तुम में आश्चर्य नहीं होना चाहिये ।  
तुम में एक स्वस्थ प्रतिक्रिया हो, क्योंकि यह विश्वासघात नहीं है ।

अपनी करुणा की दृष्टि से देखो, यह कितना सहज है ।

ओम और चित्रा ने आपस में तलाक दे लिया ।

पर मैं यह कहूँगी, मैं ओम को तलाक देकर नहीं, बल्कि उससे पाकर  
जा रही हूँ । इसे मैं पुरुष की असीम उदारता मानती हूँ, जो उसी की  
क्षमता है । ऐसे भाव का कोई प्रतिकार नहीं हो सकता, फिर भी मैं इस  
कृतज्ञता को कभी भूल नहीं सकती । तुम सोचोगे कि 'मैंने यह क्या किया ?'  
पर जब तुम मेरे सम्पूर्ण को सोचोगे, तो तुम्हें उत्तर मिल जायगा ।

यह मैंने स्वयं को प्रतिशोध दिया है ।

देवन ! तुम मुझे दूढ़ने के लिये देहरादून और मसूरी की घाटियों  
तक गये थे । अब तो नहीं जाओगे । वे घाटियाँ अब समतल हो  
चली हैं ।

तुम ने मुझे बनाया, उद्धार दिया । पर मैंने तुम्हें बनाया नहीं,

बहुत कुछ बिगाड़ा ही। देने के नाम पर छीन लिया। इन दोनों पक्षों को मैंने तब समझा, तब अनुभूति मिली, जब मैंने तुम्हारी गृहस्थी देखी, गीता को देखा।

तभी मुझ में मेरा जगा। कान्वेन्ट की शिक्षा जगी। वे प्रार्थनायें सजीव हो आयी, जिन्हे 'होली मदर्स' गाया करती थी और जिन्हे हम बिना भाव के दुहराया करते थे।

देवन, मुझे भाव मिल गया।

मैं शीतल प्रदेश से आयी थी। ठंड में पली थी। मेरे किनारे के भावों ने मुझ में भरा था कि शरीर को पालो, शीतलता में शरीर को एक तरह बनाये रखो—तरुण-मांसल-गौर, यही जीव्य होगा। यही घुरी होगी तुम्हारे घूमने के लिये।

पर अब मैं गर्म देश में जा रही हूँ—चलकर नहीं, उड़कर। उस दिन तुमने जेमखाना क्लब में उस पायलॉट अफसर को देखा नहीं था? उसी के सग जुड़कर मैं उत्तर से दक्षिणी छोर पर जा रही हूँ। पर समुद्र के पास नहीं, उससे इधर-दूर ही। जहाँ खूब गर्मी होगी, जिससे मैं जल्दी पक सकूँ। गर्म में इसलिये जा रही हूँ, जिससे यह शरीर शीघ्र गल जाय, और इसके भार से मैं मुक्ति पा जाऊँ।

ओम के साथ तुम ने ही मेरा ब्याह रचाया था। हमारे बीच तुम्हीं साक्षी थे।

पर, जब हमारा तलाक होने लगा और हुआ, तुम्हे कानो-कान खबर न मिली। यह सब मैंने ही न होने दी!

जो ब्याह का साक्षी था, वह तलाक का साक्षी क्यों हो? जो भाव अपने रूप ही में पवित्र है, महान है, उन्हे अपरूप क्यों बकिया जाय? चुपके से स्वयं ही क्यों न हो जाया जाय!

यह खबर तुम्हे उसके दूसरे दिन मिली होगी। जब तक मैं वहाँ से बहुत दूर उड़ आयी हूँ।

लोग तुम्हारे घर आ-आकर कहते रहे होंगे, 'देवन! तुम्हे पता

नहीं, चित्रा ने तो ओम को तलाक दे दिया ।' कहने वाले खत्म हो जायेंगे तो आवाजें स्वयं चल-चलकर तुम्हारे पास आयेगी ।

‘देन यू मस्ट पिटी मी, एण्ड योर सेल्फ, एण्ड दॅ होल सेट-अप ।’

मैं तुम से क्षमा नहीं माँगती । एकान्त दया भी नहीं चाहती । तुम से केवल एक सत्य चाहती हूँ । भावों से तुम मुझे तलाक दे दोगे । तुम उन्मुक्त हो जाओ । अपने स्वयं के दृष्टिकोण में जियो । कभी भी जीने के लिये होश न खोओ । जो कुछ तुम्हें बाँधता था, भँवर में डाले था, बीच में सदा धुएँ की तरह सुलगता था, वह जलकर अग्नि हो जाय ! भँवर बह कर धारा बन जाय ।

उस टुक के अनेक कीमती कपड़ों और तुम्हारे सचित्त उपहारों से कभी गीता का शरीर न छुआ जाय । उसे दिखा अवश्य दिया जाय, पर उन्हें उसके प्रयोग में न लाया जाय ।

शहर में बेचारी ऐसी असंख्य औरते हैं, जो बेहद भूखी हैं, पहनकर भी नंगी हैं । यह टुक उन्हीं के नाम भेट कर देना ।

मुझे विश्वास हो आया है, अब तुम मेरी झूठी आसक्ति में ओम के घर नहीं जाओगे । मोहवश एक दूसरे का अनादर नहीं करोगे । गीता को अपने आधार से आत्मसन्ताप नहीं होने दोगे । मुझे गदे-गदे क्लबों और भूमिओं में नहीं ढूँढोगे । कभी जीवन से भागोगे नहीं, भागकर शराब में, भाग कर कटुता में, अह के विकार में ।

जो तुम्हें मिला है, वह अनन्य है, अमूल्य है ! आज तो वह किसी को नहीं मिलता । मैं तो उसके स्वप्न देखती हूँ, और देखती-देखती उसी की नींद में मर जाना चाहती हूँ—गोद में सागर है, और ऐसी बहू है, जो प्रेमिका है, पत्नी है और सब से ऊपर, कही माँ भी है ।

“मान जा बीरू, इस तरह शरारत न कर ! जा कही बाहर खेल आ !”

“नही जाऊँगा, क्यों जाऊँ ?”

“शोर करेगा, देखता नहीं, तेरे सागर को इतना बुखार आ रहा है, और तू सर पै चढ़कर लड़ रहा है। शर्म नहीं आती !”

“क्यों शर्म आये ? क्यों मेरे भइये को बुखार आ रहा है ?”

“जा भगवान से पूछ, वही बतायेगे !”

“भगवान से क्यों पूछू। मैं तुम्ही से पूछूंगा। नहीं बतायेगी तो मैं भगवान को कही फेक आऊँगा।”

“नही मानेगा ?”

“नही।”

माता जी आयी। और तना हुआ बीरू पिट गया। फिर भी वह निश्चल खड़ा रहा। मैं रो आयी। दाये पार्श्व में बीरू को चिपकाये मैं बाहर बैठक में चली गयी।

न जाने कहाँ से गाली सीख आया था। बेधडक उन्हें गाली देने लगा।

“अरे पागल ! कोई अपने जीजा को इस तरह गाली देता है ?”

पर वह तो विद्रोह पर तुला था, “बड़े जीजा बने है ! कोई ऐसा जीजा भी होता है ?”

“क्यों, क्या बात है ? क्या खराबी है उन में ?... और तुम्ह से क्या मतलब ? पढ़ना-लिखना कुछ नहीं है तुम्हें।”

कुछ क्षणों के लिये चुप हो गया, फिर प्रौढ स्वर में उसने कहा,  
“सब जानता हूँ जिया ! मुझे सब पता हो गया है।”

“सब भूठ है। जब तक मैं जिन्दा हूँ बीरू ! सब भूठ है।”

“सब भूठ है ?... पापा भी, पड़ोस में शारदा और बिबला की माँ, सब भूठ है ? बस, तुम्ही सच्ची हो।”

मेरा माथा घूमने लगा, “क्या कहते हैं लोग ?”

“मैं क्यों कहूँ, मैं तो मारूँगा उसे ! लखनऊ जाकर मारूँगा।”

“हाय सच, पागल हो गया तू ! अपने पूज्य को इस तरह पुकारते



है ! उनके प्रति ऐसी भावना रखते हैं ?”.... तुम्हें तो उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा । कितना प्यार करते हैं ? भूल गये, लखनऊ से उन्होंने तारे नाम कितने पार्सल भेजे हैं । और उल्टे तुम इतने पूज्य को माली देते हो ?”

उसे वही बैठक में छोड़कर मैं माता जी के कमरे में लौट आयी, बुखार में डूबा हुआ मेरा सागर पलँग से उठ-उठ कर मेरी गोद में भागता था ।

क्या कहता है बीरू ?” माता जी ने पूछा ।

मैं चुप थी । माता जी कुरेदने लगी ।

“क्या बताऊँ, क्या-क्या कहता है । भोला-सा बच्चा ही तो है, कुछ कहा नहीं जाता, बस रोने को जी होता है । अजीब-अजीब बातें करता है । यह सामने दीवार पर टँगी हुई उसके जीजा की तस्वीर है, इसके लिये कहता है, इसे हटा दो यहाँ से ! नहीं तो मैं इसे नाली में फेंक आऊँगा ।

लेकिन उसका क्या दोष ? उसे जैसा लगता है, कह उठता है । अभी ससार नहीं देखा है न ! घर की चहार दीवारी में बन्द है—जैसे मैं बन्द थी । बस भावुक बन कर रह गयी हूँ । बीरू तो बच्चा है, बड़े लोग तो बच्चे से भी बत्तर हो जाते हैं !”

“मुझे कह रही है ?”

“पापा जो है, वे भी तो कह जाते हैं—‘आये देवन मेरे सामने । मुझे मुह दिखाये ।’ क्यों पापा ऐसा कहते हैं ? देवन ने उनके साथ क्या बुराई की है ? कब उनका निरादर किया है ?”

“अच्छा चुप हो जा । बोल नहीं, सागर चौक जायगा ।”

“आर्यादादा को भी बुरा-भला कह देते हैं । उन्होंने मेरी शादी करायी ! श्रीतल्लराय जैसा प्रतिष्ठित घर मेरे लिये दूदा, बहुत बुरा किया-उन्होंने ? स्वयं अपनी नहीं सोचते । लाडली बेटी को घर में बन्द रख कर बी० ए०, एम० ए० तक पढा डाला ।”

“अच्छा, चुप हो जा गिती । चुप हो जा । मैं हाथ जोड़ती हूँ । पगली कही की, रोती है, बच्चे को गोद में लिये हुये !”

“तुम भी तो उस दिन शारदा की माँ से कह रही थी, कि उस वार मेरी गित्ती बीमार होकर आयी थी, बदन में जैसे एक बूद रक्त नहीं रह गया था। इस बार बच्चे की तबीयत नहीं ठीक रहती।”

“हाँ कहती हूँ, क्या यह सच नहीं है ?”

“सच तो है माता जी, लेकिन तुम क्यों कहो ? यह बात लग जाती है मुझे ! जैसे किसी का अनादर होने लगता है !”

रात हुई। पापा जी किसी अच्छे डाक्टर को ले आये। बताया गया कि सागर को निमोनियाँ हो गया है। डाक्टर की नजर मुझ पर पड़ी, तो मुझे भी घोषित कर दिया—‘बुखार इन्हे भी है। इन्हे कम्प्लीट रेस्ट मिलना चाहिये। इन्हे नीद नहीं आती क्या ?’

तुरन्त पापा ने उठा लिया, “डाक्टर साहब, कुछ न पूछिये। बस, किसी तरह बच्चे को आराम कीजिये ! जल्द अच्छा हो जाय।” फिर मेरे सर पर हाथ रख, जैसे मुझे चेतना देते हुये उन्होंने कहा, “देख गित्ती ! मेरे कमरे में चलकर तू आराम कर। हम बच्चे को देख लगे !”

“कैसे होगा पापाजी, सागर तो मुझे एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ता। पलँग पर चौक उठता है। देखिये इसी तरह अक ही में शान्ति पाता है !”

डाक्टर ने कहा, “एक नर्स बुला लीजिये।”

सुनते ही माँ चौंकी, “नर्स ! नर्स क्या होगी ? हम लोग नहीं है क्या ?” कोई नर्स-फर्स मेरे घर में नहीं आ सकती। बच्चों के लिये मैं तो जिन्दा ही हूँ !”

डाक्टर ने बताया, “कोई बात नहीं, चाहे जैसे हो। बच्चे को आराम मिलना चाहिये। वह गोद में किसी तरह से भी न उठाया जाय। बिल्कुल हिले-डुले नहीं। लेहाफ से खूब ढका रहे। अगर मजबूरी है तो बच्चे की माँ ही बगल में सोयी रहे !”

इजेक्शन देकर डाक्टर चला गया। इसी तरह पिछले तीन दिनों से क्रम चल रहा है। जाड़े की रात है। दिसम्बर बीत रहा है। लोग कहते हैं, इस वर्ष सब से अधिक ठंड पड़ रही है। पर मुझे तो नहीं लगती। मुझे क्यों नहीं निमोनिया हुआ? मेरा पाप मेरे सागर पर क्यों उतरा? वह क्यों बीमार है? मैं इसकी बीमारी को पी जाऊँगी। बुखार को अपने मे ओढ़ लूँगी। कफ और बलगम को इस फूल जैसे नन्हे-से शरीर में न रहने दूँगी!

आज कहीं से सितार बजने की आवाज आ रही है।

“मगल ! ओ मगल काका !”

“क्या है बेटा ?”

“यह सितार कौन बजा रहा है ?”

“शारदा की भाभी है। तिरलोकी की शादी हुई है, पता नहीं तुम्हें ?”  
मैं चुप सुनती रही।

“आगरे की लड़की है। खूब नाचती गाती है।”

“अच्छा, ये दोनों रोशनदान बन्द कर लो। सितार की बोल यहाँ तक न आये ! अच्छा नहीं लगता काका !”

“तो रोशनदान क्यों बन्द करूँ ! उसी को बन्द कराता हूँ।”

हर सुबह को सोचती हूँ कि देवन को एक पत्र लिखूँ। पर क्या लिखूँ समझ में नहीं आता। हृदय कुछ उत्तर ही नहीं देता, माता जी कहती है, देवन को तार दो, बुलाकर देखो तो ?

सब सही है, पर जिस भाव से वह कहती है, मुझे प्रीतिकर नहीं लगता। तार इसलिये दिया जाय कि देवन की परीक्षा हो ! और इस भाव की परीक्षा कि हमारे बीच सम्बन्ध कितना है ? और परीक्षा भी इस आधार पर, कि सागर बीमार है—उसे निमोनियाँ हो गयी हैं।

मैं यह कभी न होने दूंगी। परीक्षा कैसी ? और किसकी ? कुछ नहीं, कोई तौल नहीं। सब अपने-आप तुल जायगा। न मैं पत्र दूंगी न तार।

मैं अपने विश्वासो में स्वयं को तौलूंगी। सघर्षों में अपने मान को जीवित रखूंगी। जो आदर्श है, उन्हें अपने स्वार्थ के लिये क्यों गिराऊँ ?

एक बन्द लिफाफा लिये हुये बीरू आया।

आवेश में कहने लगा, “देखो जिया, यह लखनऊ का ‘लेटर’ है। मैं उसकी लिखावट पहचानता हूँ। पढो मेरे सामने, क्या है ?”

बीरू को डाँटना भूल गयी मैं। सच, मैं अपने को भूल गयी। पत्र देखा, पूरा पढा, बीरू न साना। पढकर उसे सुनाया। उसे विश्वास न हुआ, स्वयं पढ़ने लगा।

“यह अँग्रेजी में क्या लिखा है, बताओ।”

अपने को भूल कर मैं उसे दबाने लगी, “यही नवी क्लास में पढते हो, ‘डाइवोर्स’ नहीं पढ पाते। और मेरे मुँह लगते हो। पापा से कहूँगी, फिर मार पड़ेगी। देखना।”

“‘डाइवोर्स’ के क्या मतलब होते हैं ?” बीरू पर कुछ न असर हुआ। मैं डाँटने चली। वह भागकर अँग्रेजी शब्द-कोष उठा लाया। ढूँढकर मतलब लगा गया—“तलाक से मतलब—तलाक के मतलब, पति-पत्नी का विधान पूर्वक सम्बन्ध त्याग।”

मैं ठगी-सी उसका मुँह देखने लगी।

वह कहता गया, “यही वह औरत है, ओम वही आदमी है। चलो अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। जिया तुम भी उसे क्यों नहीं ‘डाइवोर्स’ कर देती।”

कैपकर मैंने उसके मुँह पर एक जोर का चाँटा मारा स्वयं चीख उठी। माता जी दौड़ी आयी। भागा वह।

“माता जी, इस शैतान की बात तो देखो, अपने जीजा के लिये कहता है—उन्हे तलाक दे दो !”

निर्दोष बीरू इस बार पापा जी के हाथों पिटा। मैं सर मार कर

रह गयी। कितनी बुरी हूँ मैं, बीरू कुमार के विद्रोह का दमन मेरे हाथों हो रहा है। जो विद्रोह, क्रान्ति के भाव मेरी गति के लिये वह उठाता है— अपनी भोली-पवित्र चेतना से, उल्टे मैं ही क्यों उसे दमन करती हूँ ?

पूरे दिन तक वह मेरे सामने न आया। मंगल काका ने बताया, उसने अपनी सारी किताबें फाड़ डाली हैं। अपने कमरे में चुपचाप-अकेले बैठा हुआ, दीवार पर कुछ लिख रहा है।

शाम को मैं चुपके से उसके पास गयी। उसे अंक में बाँध कर रोने लगी—“मुझे माफ़ कर दे बीरू ! मैं मर जाऊँ पर तेरा विद्रोह बना रहे !”

“बको नहीं, भाग जाओ यहाँ से !”

“कहाँ भागू वीरन ! लखनऊ से भागकर तेरे घर आयी हूँ। अब तू भी भगा रहा है। . . . . . मुझे न माफ़ कर, अपने जीजा को तो क्षमा कर ! कितने पूज्य है तेरे ! तेरे सागर भइये के पापा है। पूरा पत्र नहीं पढ़ा ? ले फिर से पढ़। देख कितने स्नेह से हमें पत्र लिखा है। सागर को पूछा है, मेरे स्वास्थ्य को पूछा है। तुम्हें अपार स्नेह लिखा है। मैंने तो उन्हें आज तक पत्र न दिया। पर उन्होंने तो दिया।

बीरू बोला, “भट लिखो तुम भी। लिख दो कि, भइये को निमोनियाँ हो गया है, ‘कम इमीडियेटली’—( फौरन आवो )।”

“मैं क्यों लिखू ! मैं रूठी जो हूँ ! . . . जब, तू मेरा इतना विद्रोही वीरन है तो क्या मैं रूठू भी नहीं ! तेरा आदर्श कुछ तो निभाऊँ।”

कितनी जहरीली दवा है ! कब से भइये के सीने पर मल रही हूँ ! डाक्टर ने कहा है, इस दवा को लगाकर हाथ को कई बार साबुन से साफ़ कर लिया जाय।

सागर को आराम मिला है। अब वह सो रहा है।

बीरू पानी ले आया है और बार-बार साबुन से मेरा हाथ धुला रहा है। मेरी रक्षा की कितनी भावना है इसे !

बीरू किताब लेकर आया। मेरे पास बैठकर मन ही मन पढ़ने लगा।

चित्रा की सुधि होती है। न जाने क्यों उस से गले मिलकर रोने की इच्छा होती है। कितना अभेद्य कवच था उसका। बनारस लौटने की बात मैंने उससे न की थी। उसने भी न बताया कि वह सदा के लिये लखनऊ छोड़ रही है। उत्तर से दक्षिण चली गयी। कभी भेट होती ! न भेट हो, तभी तो त्याग गयी। कितनी शक्ति है तू, कितनी स्त्री है तू !

सरोज जिया होती तो उस से बीती हुई बातें होती। उसने भी तो त्याग दिया। उसकी सुधि से भय लगता है। कहती थी—दो टूटे हुये आपस में मिलते हैं—जोड़ लगाकर। और वे जोड़ बनावटी होते हैं, जिनमें न जाने कितनी तरह के सूराख रह जाते हैं।

एक सत्य तू है, अपनी जगह पर। एक सत्य मैं हूँ, जिसे जगह न मिले, पर व्याप्ति अवश्य मिलेगी।

वह यह भी कहती थी—मैं ऐसे जुड़े रहने से सदा के लिये टूट कर अलग हो जाना, अच्छा समझती हूँ, उससे एक तेज धार मिलती है।

सरोज ! वह तेज धार उसी को काट देती है, जिसमें बनती है। उसे तो खूराक चाहिये न !

पढ़ते-पढ़ते, सहसा बीरू ने पूछा, “जिया, पहले तुम फिल्मी गीत बहुत गाया करती थी।”

“पढ़ते हो कि फिल्मी दुनियाँ में रहते हो ? तब तो सारी क्रान्ति हवा हो जायगी !”

वह हँस आया, “बता दो जिया !”

“देवन को बहुत पसन्द था !”

“उल्टी-सीधी जो पसन्द थी, सब तुमने अच्छी मान ली !”

बीरू को डाँट दिलाकर चुप करा दिया।

वह पढ़ने लगा। फिर वही माता जी के पलंग पर सो गया।

सरोज ! चरम सत्य यह है कि, जुड़ने और टूटने की बात पदार्थ पर लागू होती है । मैं पदार्थ नहीं हूँ—आत्मा हूँ ; जो अनेकों में एक है, जो न जाने कब से चला आ रहा है !

संध्या समय, भगवान की आरती के लिये देर हो रही थी ।

बीरू अपने स्कूल के मैदान में कोई मैच देखने गया था । गीता सागर के पलंग से बँधी थी ।

पूजा के लिये अकेली माता जी थी । वह आरती करती, पर शंख कौन बजाता ? पापा जी बिल्कुल न तैयार थे ।

संध्या से रात हो आयी ।

मगल और पापा जी के बीच सागर को छोड़, गीता आरती कराने आयी । शंख में साँस फूकते ही, आँसुओं से गीता की आँखें भर आयी । आँसू शंख पर बरस आये ।

उसी बीच कमरे से मगल की पुकार आयी—“बेटी ! दौड़ ।”

साँस को शंख ही में छोड़ वह भगी ।

सागर अपनी बेहोशी में कराह के साथ, पूरे शरीर को कँपाने लगता था । गीता रोयी नहीं । सागर को अपने कलेज से चिपका कर कुछ भीतर ही भीतर रटने लगी ।



मगल डाक्टर को बुलाने दौड़ा ।

पापा सर थामकर बैठे रहे । माता जी आयी । चरणामृत को सागर के ओठो पर स्पर्श करा दिया ।

पापा से बोली, “बैठे क्या हो ? कम-से-कम लखनऊ तार तो दे दो ! ” गीता ने झट हाथ हिला दिया, और आत्मविश्वास से सागर को बाँधे हुये मन के ज़ुप में और प्राण देने लगी—मेरे सागर की पीड़ा मुझ में उतर आये । मुझ में बसे । जो निर्दोष है, उसे इतना कष्ट क्यों ? उसके लिये मैं हूँ—मूल गीता—यह गीता, मैं—सागर की माँ ।

दौड़ा बीरू आया । मूर्तिवत् खड़ा रहा ।

डाक्टर को लिये मगल आया ।

तब गीता रो पड़ी, जैसे दाता के सामने अवश भिखारी रोता है ।

जाँच करके डाक्टर ने बताया, “घबड़ाने की बात नहीं, डबल निमोनियाँ में ऐसा हो जाता है ! ”

इजेक्शन देने लगे । कमरे में सन्नाटा खिच रहा था, जिसके ऊपर सागर की मद्धम कराह उभर रही थी ।

बाहर किसी के आने की आहट हुई ।

बीरू देखने गया । लौटा नहीं ।

तब मगल गया ।

लौटकर सूचना दी, “देवन बाबू आये हैं ।”

उसने कई बार दुहराया—देवन बाबू आये हैं ।

पर जैसे कोई सुनने ही को न तैयार था, या किसी से सुना ही न गया । गीता ने इतना ही कहा, “मगल काका ! जाओ बीरू को पकड़ लाओ ! ” तभी कमरे में चुपचाप देवन प्रविष्ट हुआ ।

अपने को सब से छिपाता हुआ, वह ऐसे कोण पर जा खड़ा हुआ, जहाँ से केवल सागर का मुख दीख पड़ रहा था ।

मगल ने एक कुर्सी ला दी । पर देवन खड़ा रहा ।

जाते हुये डाक्टर ने कहा, “आधे घटे बाद मुझे फिर इत्तला दीजिये !”  
पापा ने कहा, “दो-एक डाक्टर को और न बुला लिया जाय !”

“अच्छी बात है ।”

डाक्टर के पीछे, कमरे से देवन भी निकला । कुछ क्षणों बाद माता जी भी गयी ।

ऑगन में देवन की बाँह पकड़ रौने लगी, “यह क्या हो गया बेटा ?”  
देवन निरुत्तर था ।

उससे यही कहा गया, “मैं दोषी हूँ, पर उसका प्रतिकार इतना कठोर नहीं होना चाहिये कि सागर की इस बीमारी की मुझे सूचना न दी जाय ।”  
सामने से पापा जी गुजरे । देवन ने उनका चरण स्पर्श किया ।

“आ गये अच्छा हुआ !” रुकते हुये पूछा, “किसी ने खबर दी थी ?”

उस से कुछ न कहा गया । सर हिलाया केवल ।

माता जी ने कहा, “तुम आ गये, मेरी छाती भर गयी, नहीं तो मैं पागल हो जाती ।”

देवन की आँखें भरी थी । सर झुकाये खड़ा था ।

उसकी बाँह पकड़े गीता के पास ले गयी, और स्वयं चौके में चली आयी ।

गीता अपने सागर में इस तरह डूबी हुई थी, कि देवन को न निरपेक्ष गीता दिखाई दे रही थी, न सागर । बोलना चाहा, स्पर्श करना चाहा, देखना चाहा, पर उसे कहीं से भी गति न मिल रही थी ।

फर्श पर घुटने टेक, पलंग की बाँह का सहारा लिये वह देख रहा था—यह बेहोश सागर है—इतनी दूर में—यह गीता है, उसकी माँ ।

और मैं कौन हूँ ?

“कुछ बोलो गीता । मुझे देखो नहीं, पर मुझे कुछ आज्ञा तो दो—  
दया ही दो—पिटी—पिटी ।”

ठीक आधे घटे बाद गीता ने टेम्प्रेचर लिया । एक कागज पर पूरी बात लिखकर उस ने मंगल काका को पुकारा ।

बहुत धीरे से कहा, “दौडकर जाओ ।”

बीरू आया, “चलिये, आप को माता जी बुला रही है ।”

देवन को माता जी के पास छोडकर स्वयं गीता के पास लौट आया ।

“जिया ! एक बात कहूँ ?”

गीता चुप थी ।

“मैंने जीजा को क्षमा दे दी । और तुम जिया ?”

गीता ने बीरू के सर को बाये हाथ में बाँध कर अपने अक में दबा लिया ।

रो आयी ।

“अपने सागर भइये को देखो बीरू ! आशीर्वाद दो कि अच्छा हो जाय । तुम अच्छे मामा हो न ।”

पीछे देवन आ खडा हुआ । पर उन दोनों को आहट तक न हुई ।

“बीरू ! सामने सागर भइये से कहो, हमे क्षमा कर दे !”

देवन को अब असह्य हो गया, उसने बढकर बीरू को पकड लिया । जैसे वह स्वयं लडखडा गया और अपनी रक्षा के लिये उसने बीरू को धर लिया ।

उल्टे अपने को धीरज देने लगा, “घबडाओ नही बीरू, तुम्हारा भइया जल्द अच्छा हो जायगा ।”

डाक्टर को लिये हुये मगल लौटा ।

इस बार बच्चे को देखकर उन्होंने एक नयी दवा दी । कहा, “जब बच्चा कराहे, या जब इसमें ‘क्वल्शन्’ हो, तब-तब सारी रात, गुनगुने पानी में यह दवा पिलायी जाय ।”

“ऐसा कैयो है डाक्टर साहब ?” आर्त स्वर से देवन ने पूछा ।

“एक ओर कफ है, दूसरी ओर प्यास ।”

बडी ठडी रात थी । लकडी के कोयले की अगीठी दहक रही थी । चारो ओर सन्नाटा खिंचा था । सरहाने कुर्सी पर देवन बैठा था । पलंग पर गीता गडी बैठी थी ।

देवन ने अपनी शाल उठायी, धीरे से गीता को ढक दिया। वह निश्चेष्ट बैठी थी, जैसे वही उसका रूप और आकार था। देवन चुपचाप उसे ऊपर से देखता हुआ खड़ा रहा।

एक वज्रनी कम्बल उठाया। हाथों में फैलाये हुये, उसी के सहारे, उसने गीता को वही पलंग पर सुलाना चाहा, पर जैसे वह कोई पत्थर की प्रतिष्ठित अपनी मूर्ति हो, जिसे मजबूत नीव मिली हो। काँपते स्वर में देवन ने कहा, “तुम न क्षमा करोगी तो मुझे सागर क्या करेगा ? मैं ही तो मूल हूँ।”

वह निःस्पन्द बनी सो गयी। देवन ने उसे चारों ओर से खूब ढक दिया। और सरहाने खड़ा रह कर वह अपने में कोई ऐसा बल-उत्साह संजोने लगा, जो उस पलंग से फूट रहा था।

सागर को एक घूट पानी पिलाकर वह अपनी आँखें मूढ़ लेता, उतना पानी निगलने में उस अबोध शिशु को पीड़ा होती थी।

दायाँ हाथ सागर के ऊपर था, बाये हाथ को उसने गीता के सर से केवल सम्पृक्त कर रखा था—डर था, कि चौककर वह जग न जाये।

रात का एक प्रहर बीता।

आधी रात हुई।

उस से भी आगे रात बीतने चली। गीता की नींद से सिसकियों में डूबा हुआ कोई स्वर उभरना चाह रहा था, जो निःशब्द चीखता था, पर उसे वाणी न मिल पा रही थी।

देवन उसके फूलते-बैठते अक को बहुत धीरे-धीरे थपथपा रहा था।

एक बार गीता बहुत शक्ति से चौकी और उसी झटके में वह उठ बैठी। डरी हुई पहचानने-सी लगी—यह मेरे सामने कौन बैठा जग रहा है ? इस तरह पहली बार उसकी आरक्त, परबुझी हुई आँखें, जिनमें बुझे हुये प्रश्न भी थे, देवन से मिली। उसने दृष्टि गिरा ली।

गीता के मुह से निकला, “मैं सो गयी थी ?”

देवन चुप रहा ।

“सो जाओ तुम ! उठो यहाँ से ।”

कई बार गीता ने दुहराया ।

तब देवन बोला, “मुझे सुलाओ नहीं, मैं जग गया हूँ ।”

दोनों बैठे रहे—मूक-निश्चेष्ट । दृष्टियाँ एकीकृत होकर सागर पर जमी थी ।

सुबह होने को आयी । दूर, मन्दिरों और शिवालयों के घंटे बजने लगे । अज्ञान हो रही थी । गली, मुहल्ले और राजपथ से लोग गंगा-स्नान के लिये जा रहे थे ।

सागर की कराह, उसकी ऐठन, गिड़गिड़ाहट, सब शान्त थी । कभी-कभी उसके ओठ अपने-आप खुलते और मुद जाते । जो एक घूट गुनगुना पानी डाला जाता, वह अपने-आप बाहर बह आता । जैसे नन्हें से सागर में ज्वार उठ रहा हो ।

गीता अपने में चीख उठी । सागर को अक में भर लिया । गड़ी हुई, बिल्कुल सागर के ओठों पर अपनी आँख भुकाये, देख रही थी—उसके ओठ हिल रहे थे ।

देवन उसके नन्हे पैरों में अपने मुह को छिपाये रो पड़ा ।

शक्ति से गीता ने कहा, “रोते हो ! हम क्षमा नहीं पा सकते । जाओ शहर के सब डाक्टर को बुला लाओ ।”

देवन बाहर भगा । मंगल को लिये हुये सड़कों पर दौड़ने लगा ।

अपने डाक्टर के साथ चार और डाक्टर आये ।

पर सागर तो चला गया था ।

वहाँ उसकी छाया शेष थी—ठंडी छाया ।

जो आँखें पिछले हफ्ते से बन्द हुई थी; वे अनन्त में खुलकर रह गयी थी ।

रामायण की खुली हुई पोथी, गंगा जल, तुलसी के पौदे की एक टहनी, जिसमें दो-एक काले-काले फूल लगे थे ।

गंगा से लौटकर जब देवन घर में प्रवेश करने लगा, उसे अनुभव हुआ, घर की देहरी से लेकर समूचे घर के विस्तार में कुछ ऐसा घुट रहा था, जिसके करुण रुदन में स्वर थे, पर वाणी न थी । भयानक भाव थे, पर गति न थी ।

आँगन में माता जी रो रही थीं । दाये कंधे से लिपट कर ब्रीरू रो रहा था । और उनकी गोद में गीता का सर गड़ा था, जिसका कही से भी मुह न दिखाई दे रहा था ।

कही अपने-आप में छिपे हुये मंगल और पापा जी चुप हो गये थे ।  
और देवन ?

उसमें न कोई उत्तर था, न प्रश्न, न बल न प्रेरणा । वह सब को देखता और सब की दृष्टि में दया डूबता ।

पर, घर के उस आँगन में कुछ ऐसा खो गया था । जलते-जलते कुछ ऐसा बुझ गया था, जो अपने निष्क्रिय अन्धकार में कोई गति न दे रहा था ।

दो दिन बीते ।

तीसरे रोज देवन को लगा, वह नहीं है—उसको सज्ञा, उसका अस्तित्व, उसका मूल्य और व्याप्ति, इन सब तत्त्वों से भी बड़ा कोई तत्त्व खो गया है ।

वह एक-एक के पास खड़ा होता । कुछ प्रश्न नहीं करता, पर सब से उत्तर की कामना करता । सब में कोई ऐसा स्थान डूबता, जहाँ वह

अपने को सापेक्ष बनाता, बाँधता, और जी भर रोता । जब उसे कहीं न ठौर मिला, तो वह छत के ऊपरी कमरे में चला गया—गीता के मूल स्थान पर—उसके अतीत में ।

खाली पलँग पर औधा गिर पड़ा । और उसकी दायी बाँह पकड़ कर निशब्द रोने रलगा ।

जैसे वह गीता की बाँह हो, जो आजानुबाहु है । माँ की बाँह है, जो चौड़े-गहरे अक की भुजा भी है ।

गीता ! ओ सागर की माँ ! मुझे क्षमा दिला, सागर का दूध तो मुझ से छिना गया था । क्षमा नहीं, मैं दया की भीख माँगता हूँ—क्योंकि तू माँ है, माँ—जो मूल है ।

नीचे कहीं चुपचाप गीता रो रही है और उस में से कुछ ऐसा उभर रहा है, जो जीने से चढ़ता हुआ, कमरे की दीवारों को फाद कर उसे जकड़ लेता है और उससे उत्तर माँगता है । पर देवन तो शून्य था ।

पलँग को छोड़कर वह अवश कमरे में चक्कर लगाने लगा ।

जब दम घुटने लगा, वह आर्त स्वर से चीख उठा—‘गीता’ ।

और वही फर्श पर बैठ गया—घुटनों में सर गाड़ कर ।

दीवार के सहारे चलती हुई, गीता ऊपर आयी । और दीवार से टिकी खड़ी रह गयी ।

देखने लगी—एक पुरुष फर्श पर बैठा है—अपने घुटनों पर माथा टेके—एक पुरुष उसके ऊपर खड़ा है—सूट पहने—दृष्टि मोटी किये हुये । देखने वाली स्त्री दीवार के सहारे खड़ी रही । और दूसरी स्त्री दीवार को छोड़ आगे बढ़ी—टुक खोला । साड़ी के उस सूट को इस अन्दाज से पहना, जिसमें स्त्री से केवल उसका शरीर अलग हो जाता है—शरीर की आकृति अपने एक-एक अंग विन्यास में भोग की तरह उभर आती है ।

स्त्री, खड़े पुरुष के पास गयी ।

कमर से बाँधने के लिये मुद्रा बनाने लगी ।

तभी बैठा हुआ पुरुष चीख आया और बढ़कर अपने उस रूप को पी

गया—जैसे धर्म प्रायश्चित्त को निगल जाता है, वेदना अन्धकार को पी जाती है ।

वह एक होकर दीवार से सटी गीता में जकड़ गया—कॉपने लगा—  
“मुझे नहीं चाहिये । वह नहीं । वह नहीं । वह चाहिये, जो तुम हो—  
अन्तस् में, अनुभूति में, भाव में ।”

गीता के झुके हुये सीमत पर साँस भरता हुआ देवन कहने लगा,  
“सागर की माँ ! मुझे अपनी करुणा दो, दया—वह सारी ‘पिटी’ जो  
‘डी हेविन’ में आकर तुम्हें किसी समय ओम दे गया था ।”

गीता चित्रवत् मूक थी । बस, उसकी बिखरी हुई अलके बह रही थी ।

उन्हे आँखों से छूकर देवन बोला, “मैं तुम्हारा वह देवन हूँ गीता ।  
जिसे अपना बचपन नहीं याद था । माँ कहती थी, जिसे अपना बचपन  
भूल जाता है, वह सदा भटकता है । . . . . सागर की माँ, मुझे  
अब मेरा बचपन याद आ गया । . . . . मेरी माँ का नाम गगा-  
जली था, तुम सागर की माँ ।

गगा जल और सागर ।

तुम्हें जब पहली बार देखा था—निरपेक्ष—तो मेरे खोये हुये बचपन  
के सारे अधिकार मचल पड़े थे ।”

शिशु की तरह देवन रो आया ।

लेकिन आवेश में उसका दायाँ हाथ शून्य में काँप रहा था और उसकी  
दसों उँगुलियाँ अपने-आप में भिच रही थी, जैसे वह कुछ फाड़ रहा हो—  
किसी विन्यास को, किसी शरीर के आवरण को, किसी आकृति के रूप  
और उसके समूचे वाह्य को ।

और वह निष्क्रिय हो गीता की ओर देखने लगा ।

गीता की उपस्थिति जैसे कही और थी ।

“कुछ बोलो गीता, क्या सोच रही हो ?”

गीता सर हिलाकर रह गयी ।



देवन ने अपने को साधते हुये कहा, “चलो हम आज ही लखनऊ भाग चले गीता, तुम्हारे बिना मैं एक क्षण भी अकेले नहीं रह सकता।”

गीता के रोये हुये मुख पर बरबस हँसी-सी कुछ उभरने लगी, लेकिन एक ही क्षण में वह उभरती हुई आभा स्याह पड़ती गयी और गीता को लगा उसके मुह में कहीं कालिख पुत गयी है।

उसने दोनों हथेलियों को बाँधकर उस में अपने मुख को गाड़ लिया। पर दृष्टि उसकी सामने टँगी रही, जैसे उस मुख में वह दृष्टि नहीं थी, कहीं उसकी निरपेक्ष सत्ता थी, जहाँ से वह उल्टे गीता को देख रही थी।

गीता का स्वयं, उसका समूचा सत्य, सहसा जाणी पा गया, “जिसकी बाँह का सहारा लेकर मैं लखनऊ से यहाँ आयी थी, जब वही न रहा...। स्वर कँप गया, पर टूटने न पाया, “जो फिर मुझे लखनऊ वापस ले जाता, वह तो सदा के लिये चला गया न! सागर तो सूख गया .

. वही हमें मिलता था। हम उसी एक में मिले थे। वही आधार था। हमें आत्मा से मिलाने वाला वही है। वैसे क्या मिलना। . और अब? यह तो बहुत बड़ा पाप होगा। मेरे सागर का विश्वास टूटेगा। वह सोचेगा कि उन दोनों के बीच जब मैं न रहा तब वे दोनों लखनऊ गये। तब यह होगा, कि जैसे हमारे स्वार्थ ने उसे मौत दी है। . . . मैं यह सब नहीं चाहती देवन। . . . अपनी शान्ति के लिये हम सागर की आत्मा का अब क्यों अपमान होने दें?” सँभालते-सँभालते गीता का स्वर टूट गया। और वह एक दृष्टि में देवन को निहारती रही।

कठ को तौलती हुई फिर कहने लगी, “व्यक्ति से भी महान भाव होता है। व्यक्ति तो उसके साधन मात्र है। सागर पुत्र ही न था—उससे भी ऊपर वह एक बहुत बड़ा भाव था। वह भाव, जो तपस्या और उत्सर्ग से मिलता है। लेकिन हम उस भाव को समादृत न कर सके।”

गीता के कठ में कछ बहुत वरस आया, और उसके स्वर भीगकर

गुस्तर हो गये, “अब जो शेष रह गया है, उसका अनादर अब न होने दूँगा।”

देवन ने बढ़कर अपनी पूरी शक्ति से गीता की दायी हथेली बाँध ली, “यह सब क्या कह रही हो तुम ?”

गीता ने कुछ न कहा। वह निश्चेष्ट देवन की आँखों में देखती रही। देवन को दोनों बँधी हथेलियाँ जैसे अपने-आप निर्जीव हो कर अलग छूट गयी।

गीता बोली, “मैं भी नहीं समझ रही हूँ देवन ! लेकिन ऐसा विश्वास होता है कि किसी दिन हमें इसका मृत्यु अवश्य मिल जायगा। उसी क्षण हम फिर से जी उठेंगे।”

उसी बीच, जीने से किसी के आने की आहट हुई, जैसे पापा या माता जी हो !

एकएक गीता उठ खड़ी हुई। माथे पर आचल को सँभाला झुक कर देवन की दायी बाँह थामकर उमे खड़ा कर दिया। उमे लिये कमरे में बाहर चली आयी।

जीने से माताजी लोट रही थी। नीचे पापा जी खड़े थे। वह भी आँगन की ओर मुड़ गये।

“देवन, तुम पुरुष हो, स्त्री तो मैं हूँ !”

देवन जैसे चीख-चीखकर रोना चाहता था, पर न जाने कैसी निस्तब्धता उसे बाँधती जा रही थी।

गीता ने बहुत धीरे से कहा, “देवन ! ओ देवन ! ! तुम मेरा यह कथा थामो . . यह बायाँ कथा ! और मुझे इस जीने से नीचे उतार दो !” देवन ने उसे कई क्षणों तक देखा। दोनों एक दूसरे को देखने लगे, जैसे दृष्टि ही में वाणी हो, और वह वाणी जो अनुभूति को बाँध ले।

देवन उसे सीढियों पर बहुत धीरे-धीरे उतारने लगा। गीता के पैर हर सीढ़ी पर काँप जाते थे लेकिन वह उतरती जा रही थी।